अर्थसंग्रह

भूमिका

मीमांसा शब्द का अर्थ :– मान् धातु से सन् और स्त्रीत्व को विवक्षा में टाप् प्रत्ययों के योग से 'मीमांसा' शब्द निष्पन्न होता है, जिसमें दीर्घत्व तथा अभ्यास 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' नियम के अनुसार होते हैं। वस्तुतः मान् धातु भ्वादि तथा चुरादि दोनों गणों में पठित है। दोनों ही स्थलों पर उसे पूजार्थक स्वीकार किया है। वार्तिकाकार उसको 'जिज्ञासार्थक' भी मानते हैं। इन विचारकों की दष्टि से पूजा और जिज्ञासा दो अर्थ स्पष्ट होते हैं। भट्टोजिदीक्षित ने चुरादि प्रकरण में ३१०वीं धातु के विवेचन के अवसर पर इसको सन्नन्त होने पर विचारार्थक स्वीकार किया है। इस प्रकार पूजा, जिज्ञासा, और विचार–ये तीन अर्थ मान् धातु के प्राप्त होते है।

अर्थसंग्रहकार भास्कर ने इसको और भी स्पष्ट कर दिया है। उनके अनुसार धर्म का विचार प्रस्तुत करने वाला शास्त्र 'मीमांसा' है, न कि कोई भी विचार। विख्यात 'भामती' टीका के रचयिता वाचस्पति मिश्र मीमांसा को 'पूजितविचार' का वाचक स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार अर्थग्रहण करने पर मान् धातु के पूजा तथा जिज्ञासा या विचार दोनों अर्थों की संगति बैठ जाती है, किन्तु यह संगति व्युत्पत्तिगत न होकर ऐतिहासिक होगी। भामतीकार की दष्टि में पूजितता अर्थ परमपुरुषार्थभूत सूक्ष्मतम ब्रह्मज्ञान के विषय में निर्णय देने के कारण है, इसी प्रकार जैमिनिनय के अनुसार परमपुरुषार्थभूत स्वार्थ आदि की प्राप्ति के विशिष्ट साधनों का प्रतिपादक या निर्णायक मानकर यहाँ भी वह अर्थ स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु सत्य यह प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में शनैः शनैः वेदों के प्रति आदर का भाव बढ़ते रहने पर उससे सम्बद्ध विचारों के प्रति भी लोगों में पूज्य–भाव बढ़ा और मीमांसा पूजित विचार का वाचक हो गया। मान् के दोनों अर्थों की संगति में दीर्घ अन्तराल की अपेक्षा रही।

इस प्रकार निष्पत्तिगत पूजा, जिज्ञासा, विचार और पूजितविचार अर्थो को व्यक्त करने वाला मीमांसाशब्द 'धर्मविचारशास्त्र' अर्थ में रूढ़ हो गया है।

मीमांसा के पर्याय :– मीमांसाशब्द तथा मीमांसादर्शन दोनों अतिप्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। यद्यपि मीमांसादर्शन का जो उद्धार जैमिनि मुनि ने किया उसकी महत्ता के कारण ही इस दर्शन का नाम 'जैमिनिनय' पड़ गया।

कुछ श्रौतसूत्रों में मीमांसा का समानार्थक शब्द 'समयविद्या' मिलता है। इसके प्रथमसूत्र की व्याख्या करते हुए 'उज्ज्वला' नाम की टीका में आचार्य हरदत्त ने 'समय' कौ पौरुषेयी व्यवस्था कहा है, आचारो को उन पर आश्रित कहा है।

शनैः शनैः इसके नामान्तर भी प्रयुक्त होने लगे। 'न्याय' शब्द इस शास्त्र के साथ बहुशः प्रयुक्त हुआ है। वाचस्पति मिश्र, पार्थसारथि, आचार्य माधव सदश आचार्यों ने अपने ग्रन्थों का नामकरण भी न्यायशब्द के साथ किया–जैसे न्यायकणिका, न्यायरत्नमाला, न्यायमाला–विस्तर आदि। यह नाम इस शास्त्र की विचार–प्रधानता तथा इसमें प्रमाणों से अर्थ–परीक्षण को प्रमुखता के कारण है। आपदेव सदश आचार्यों ने तो मीमांसा के भी साथ न्याय–पद का प्रयोग कर अपने ग्रन्थ का नाम 'मीमांसा–न्यायप्रकाश' रखा।

मीमांसा का एक अन्य प्रचलित नाम 'पूर्वमीमांसा' है। संभवतः जब मीमांसा का अर्थ 'पूजितविचार स्वीकार करने वाले वेदान्ती अपने शास्त्र को भी पूजित ही घोषित करने लगे, उस समय दोनों का पार्थक्य प्रकट करने के लिये प्राचीनता तथा अर्वाचीनता के क्रम से 'पूर्व' और 'उत्तर' शब्दों का योग किया जाने लगा। प्राचीनता और अर्वाचीनता का आधार इसलिए माना गया क्योंकि शंकराचार्य ने इन दोनों दर्शनों में कारण–कार्य भाव अपेक्षित नहीं स्वीकार किया है। साक्षात् रूप से पूर्वमीमांसा का उत्तरमीमांसा से कोई सम्बन्ध नहीं। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि उत्तरमीमांसा वेद के अन्तिम भाग उत्तरांश उपनिषद् से सम्बद्ध है और मीमांसा कर्मकाण्ड अर्थात् वेदों के पूर्वभाग से, अतः दोनों में मीमांसा होने के कारण पार्थक्य का ज्ञापन पूर्व और उत्तर शब्दों से किया गया।

इसी प्रकार पूर्वतन्त्र, विचारशास्त्र, धर्ममीमांसा, अध्वरमीमांसा, वाक्यशास्त्र आदि नाम समय–समय पर अन्य शास्त्रों में इसकी भिन्नता, धर्म की स्पष्टता अथवा तत्कालीन शास्त्रीय प्रमुख प्रवत्तियों के परिचायक हैं।

लौगाक्षिभास्कर :- इनका वास्तविक नाम भास्कर तथा कुलनाम लौगाक्षि था। इसका प्रमाण यह है कि इन्होंने जहाँ भी अपना परिचय दिया है वहाँ अपना नाम भास्कर नहीं छोड़ा है, लौगाक्षि पद कहीं है कहीं नहीं। यथा–अर्थसंग्रह' के प्रारम्भिक

श्लोक में लोगाक्षिभास्कर पूरा नाम है तथा उसी ग्रन्थ के अन्त में केवल 'भास्कर' है। इसी प्रकार इनके दूसरे ग्रन्थ तर्ककौमुदी के उपान्त्य श्लोक में 'भास्कर शर्मा' मात्र है। तर्ककौमुदी के द्वितीय मंगल–श्लोक में भी लौगाक्षिपद प्रयुक्त हैं, तथापि वह सर्वत्र न होने से इनका वंशनाम ही प्रतीत होता है।

भास्कर का परिवार :– अन्य भास्करों ने अपनी भिन्नता को प्रकट करने के लिए ग्रन्थकार ने अपने कुल का वाचक लौगाक्षि–पद प्रयुक्त किया। इनके पिता का नाम सामान्यतः मुद्‌गल तथा पितामह का रुद्र कहा जाता है। श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनको रुद्र का भतीजा स्वीकार किया है। गजेन्द्रगडकर तथा करमरकर महोदयों ने मंगलाचरण के श्लोक के आधार पर वायुदेव तथा रमा के इनके पिता एवं माता अथवा गुरु–गुरुपत्नी होने की संभावना व्यक्त की है। कीथ का ही मत सामान्यतः स्वीकार किया जाता है।

यद्यपि वासुदेव और रमा दोनों पदों का अर्थ सामान्यतः विष्णु ओर लक्ष्मी ही स्वीकार किया जाता है और इनको भास्कर गे गुरु–गुरुपत्नी अथवा पिता और माता का नाम नहीं माना जाता है, तथापि यह विशेष विचार है कि उन्होंने इन दोनों पदों का अविकल प्रयोग अपने दोनों ग्रन्थों में किया है। अर्थसंग्रह के मंगल श्लोक, 'तर्ककौमुदी' के प्रथम 'मंगल–श्लोक' तथा अन्तिम मंगल श्लोक में वासुदेव और रमा द्रष्टव्य हैं। यदि व्यक्ति–विशेष के वाचक ये पद न होते तो सर्वत्र एक ही पद का प्रयोग न होता। ग्रन्थकार विष्णु और लक्ष्मी के अन्य पर्यायों का प्रयोग अवश्य करता। 'तर्ककौमुदी' के श्लोकों में प्रयुक्त 'सुरवैरिभङ्गं', 'नवनीरदाभं', 'मत्स्यादिरूपैः' शब्दों से उनकी विष्णु और लक्ष्मी के रूप में प्रतीति अवश्य होती है, किन्तु 'वारितदोषसङ्गम्', 'विद्यानिधानं', सदश पदों से यह संभावना बढ़ जाती है कि रमा भास्कर की गुरुपत्नी और वासुदेव गुरु थे, जिनको पाचरात्र–वैष्णवधर्म से प्रभावित होने के कारण वह विष्णुस्वरूप ही मानते रहे हों। अतः इस संभावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि वासुदेव भास्कर के गुरु तथा रमा गुरुपत्नी का नाम था।

देश तथा काल :– भास्कर का समय सामान्यत १६वीं शताब्दी ई० का अन्तिम भाग अथवा १७वीं का पूर्व भाग स्वीकार किया जाता है। लौगाक्षि सदश वंश दक्षिण में अधिक हुआ करते हैं, अतः इनका दक्षिण भारतीय होना सुनिश्चित है। अपनी तर्ककौमुदी में इन्होंने काशी की मणिकर्णिका का उल्लेख किया है जिससे इनके काशीवासी होने की संभावना बढ़ जाती है। संभव है, आज काशी में निवास कर रहे दक्षिण भारतीयों की भाँति यहीं जीवनयापन किया हो, किन्तु जन्मसूत्र दक्षिणी हो।

ग्रन्थ :– भास्कर के केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं (१) मीमांसा का 'अर्थसंग्रह' (२) वैशेषिकदर्शन का 'तर्ककौमुदी'। दोनों ही प्रकरण–ग्रन्थ हैं और अपने–अपने दर्शनों के प्रतिपाद्यों का सामान्य ज्ञान कराते हैं। 'तर्ककौमुदी' में न्याय के विषयों का वैशेषिक–पद्धति पर विवेचन है। 'अर्थ–संग्रह' मीमांसा का एक लघुकाय प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें शाबरभाष्य में प्रतिपादित बहुत से विषयों का अतिसंक्षेप में निरूपण है। संक्षेप में अधिकतम विषयों को प्रस्तुत करने के कारण इस ग्रन्थ का प्रचार जिज्ञासु–सामान्य में अत्यधिक हुआ और उपयोगी होने पर भी अनेक प्रकरण–ग्रन्थ इतने प्रचलित न हो सके। यहाँ केवल कर्मकाण्ड के सम्बद्ध विधि आदि वेद के पांचों विभागों का निरूपण है।

टीकाकार :– इस ग्रन्थ की संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनेक टीकायें, अनुवाद तथा व्याख्यायें हुई हैं। अब तक उपलब्ध टीकाओं में रामेश्वर शिवयोगी की 'कौमुदी' व्याख्या सबसे प्राचीन है। इस टीका का प्रकाशन वाराणसी, बम्बई आदि अनेक स्थानों से हो चुका है। डा० कामेश्वरनाथ मिश्र द्वारा रचित 'प्रकाशिका' इस टीका की महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी हिन्दी व्याख्या है जो चौखम्बा सुरभारती से प्रकाशित हुई है।

इस ग्रन्थ की दूसरी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण टीका म० म० कृष्णनाथ न्याययपचानन की 'प्रतिपादिका' है। इस टीका में अत्यन्त सरल भाषा में सप्रमाण विषयों को स्पष्ट किया गया है। इसका प्रकाशन कलकत्ता से १६२१ शकाब्द में हुआ।

इसी प्रकार जीवानन्द विद्यासागर की भी टीका कलक त्ता से छप चुकी है जिस पर 'कौमुदी' का केवल प्रभाव ही नहीं है, अपितु स्थान–स्थान पर पूरा का पूरा अवतरण ही ले लिया गया है।

कलकत्ता से ही म० म० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण की 'अमला' टीका भी १८६६ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। यद्यपि यह टीका संक्षिप्त है, तथापि सारगर्भित एवं महत्त्वपूर्ण है।

विख्यात–वैदुष्य पण्डित श्रीपट्टाभिराम शास्त्री के द्वारा लिखित 'अर्थालोक' टीका वाराणसी से १६७७ में डा० वाचस्पति उपाध्याय की 'लोचन' हिन्दी टीका के साथ प्रकाशित हुई है।

इस ग्रन्थ का अंग्रेजी भाषा में सटिप्पण अनुवाद भी अनेक स्थानों से प्रकाशित हुआ है। डॉ० जी० थीबो ने इसका अंग्रेजी

अनुवाद १८८२ ई० में प्रकाशित कराया जिसका पुनर्मुद्रण भी हो चुका है। अनुवाद प्रामाणिक है और छिट–पुट टिप्पणियों से विभूषित है।

श्री डी० आर० गोखले ने अर्थसंग्रह का अंग्रेजी अनुवाद 'कौमुदी' के साथ १६३२ ई० में पूना से प्रकाशित कराया।

प्रमुख विवेचनीय विषय

1. धर्म तथा उसका लक्षण।

2. भावना का लक्षण तथा उसके दो भेद।

3. वेद का लक्षण तथा उसके विभाग।

4. विधि का लक्षण तथा उसके प्रकार।

इन महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन आगे किया जा रहा है–

१. धर्म तथा उसका लक्षण

प्रश्न उठते हैं – धर्म क्या है ? उसका लक्षण क्या है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में हम कह सकते हैं कि–

मीमांसाशास्त्र का उद्देश्य 'धर्म' की व्याख्या करना है कुमारिलभट्ट कहते हैं–"धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्" अर्थात् – धर्म के विषय में कहना मीमांसादर्शन का प्रयोजन है। लौगाक्षिभास्कर के अनुसार–'यागादिरेव धर्मः।' अर्थात् यागादि क्रियाओं का सम्पादन करना ही धर्म है। यहाँ 'एव' शब्द से चैत्यवन्दनादि (वक्ष–पूजा) का निषेध और 'आदि' शब्द से दान, होम आदि क्रियाओं का तथा द्रव्य, गुण आदि पदार्थों का ग्रहण किया जाता है। इसलिए ज्ञात हो गया कि 'यागादिरेव धर्मः'। दूसरे प्रश्न के उत्तर में लोगाक्षिभास्कर कहते हैं :–

"वेद प्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।"

अर्थात् वेद में प्रतिपादित, प्रयोजनवाला और अर्थयुक्त विषय ही धर्म है। निर्दुष्ट लक्षण को तीन दोषों (अव्याप्ति, अतिव्याप्ति तथा असम्भव) से रहित होना चाहिये। अर्थसंग्रहकार द्वारा धर्म के विषय में दिया गया लक्षण इन तीनों दोषों से रहित है।

धर्म के लक्षण में तीन विशेषतायें हैं :–

(१) वेद प्रतिपाद्यो धर्मः (२) प्रयोजनवान् धर्मः (३) अर्थो धर्मः। इनका विवेचन इस प्रकार है :–

१. वेद प्रतिपाद्य धर्म :-

अर्थात् धर्म वह है जो वेद द्वारा प्रतिपदित किया गया हो। जैसे 'स्वर्गकामः यजेत्'। यह वाक्य यज्ञ के लिए है और वेद में कहा गया है। लक्षण में 'वेदप्रतिपाद्य' पद देने से भोजनादि में धर्म लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती। यद्यपि भोजन तप्त्यादिरूप प्रयोजनवाला भी है और इष्ट भी है, किन्तु वह राग प्राप्त होने और वेदप्रतिपाद्य अर्थात् विधेय रूप में वेद प्रतिपादित न होने के कारण 'धर्म' नहीं कहा जा सकता। शंका होती है कि–

"अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्याः, षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिशन्नु गहस्थस्य यथेष्ट ब्रह्मचारिणाम्।।"

अर्थात् – मुनियों ने आठ ग्रास भोजन वनवासियों ने सोलहग्रास भोजन तथा गहस्थियों ने बत्तीस ग्रास भोजन करना चाहिये और ब्रह्मचारी अपनी इच्छा के अनुसार भोजन कर सकते हैं।

प्रस्तुत इन विधिपरक वाक्यों से भोजन भी विधिबोधित सिद्ध होता है अतः वेदप्रतिपाद्य लक्षण भोजन में भी अतिव्याप्त हो जायेगा और तब यह धर्म का लक्षण निर्दुष्ट नहीं रहेगा।

शंका के समाधान में कहते हैं–ऐसा नहीं क्योंकि उपर्युक्त स्मतिवचन सामान्य भोजनपरक न होकर ग्रासनियमपरक है।

२. प्रयोजनवान् धर्म :-

"प्रयोजनवान् धर्मः' कहने से धर्म की प्रयोजनवत्ता सिद्ध होती है। इसी से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रयोजन धर्म नहीं है, अपितु धर्म ही प्रयोजन वाला है। स्वर्गादि धर्म के प्रयोजन होते हैं और इष्ट भी। अतः प्रयोजन में धर्म लक्षण में 'प्रयोजनवत्' पद सन्निविष्ट किया गया है। इससे लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं हुआ।

३. अर्थो धर्म :-

इसी प्रकार अनर्थफल प्रदान करने वाले अनर्थभूत श्येन आदि यज्ञों में धर्मलक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लक्षण में 'अर्थ' (इष्ट) पद रखा गया है। अभिप्राय यह है कि श्येन आदि यज्ञ यद्यपि वेद प्रतिपादित है और शत्रुमारणरूप प्रयोजन वाले भी हैं, किन्तु अर्थ (इष्ट) नहीं है। क्योंकि श्येनादि यज्ञ करने के पश्चात् प्रायश्चित करने का भी विधान पाया जाता है और प्रायश्चित करने में दुःख ही होता है। अतः ये यज्ञ केवल सुख उत्पन्न न कर दुःख भी उत्पन्न करते हैं। दुःख प्राप्ति किसी का अर्थ (इष्ट) नहीं हो सकती। अतः अनर्थोत्पादक होने के कारण श्येन कर्म धर्म नहीं हो सकता।

यहाँ पुनः शंका होती है कि नरक जनक कर्म ही अनर्थ होता है। श्येन कर्म नरक (दुःख) जनक नहीं है। अतः वह अनर्थ भी नहीं है। फिर मीमांसा दर्शन के चतुर्थाध्याय में जैमिनि ने इष्ट साधक होने तथा वेदबोधित होने के कारण श्येन कर्म को भी धर्म कहा है। अतः लक्षणगत (अर्थ) पद का व्यावर्त्य श्येन नहीं हो सकता।

समाधान में कहते हैं कि यह शंका निर्मूल है। क्योंकि शत्रुवध निश्चित रूप से नरक जनक है। यदि ऐसा न होता तो श्येन कर्म के बाद प्रायश्चित की व्यवस्था क्यों की जाती ? अतः अनर्थफल वाला होने के कारण शत्रुवध द्वारा नरक जनक श्येन कर्म भी 'अनर्थ' ही है। फिर जैमिनी ने तो चौथे अध्याय में साक्षादिष्ट साधक होने और वेद–प्रतिपादित होने के कारण ही उसे धर्म कहा है। वस्तुतः अभिचार (श्येन) कर्मों से मनुष्य राग में प्रवत्त होता है और वेद केवल ऐसे अभिचार कर्मो को मात्र साधन के रूप में प्रतिपादित करता है। वे अनिष्टजनक तो होते ही हैं। अतः यहाँ जैमिनि के वाक्य से विरोध नहीं मानना चाहिये।

इस प्रकार प्रयोजनवान्, वेदप्रतिपाद्य और अर्थवान् होने से धर्म का लक्षण सिद्ध होता है।

२. भावना तथा उसके भेदों का विवेचन

भावना :-

उत्पन्न होने वाली वस्तु आदि की उत्पत्ति में उत्पादक का जो व्यापार विशेष 'कारण' होता है, उसे भावना कहते हैं–"भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भवायितुर्व्यापार विशेषः।" यहाँ व्यापार विशेष से तात्पर्य मानसिक व्यापार से है। उसे 'विशेष' इस विशेषण से विभूषित इसलिए किया गया है कि वह बाह्य जगत् में प्रत्यक्ष देखी जाने वाली क्रिया न होकर मानसिकी क्रिया है।

'भावना' के उपर्युक्त लक्षण को इस लौकिक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है–यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा' 'ओदनं पच'। अब देवदत्त यज्ञदत्त के उक्त वाक्य को सुनकर सोचता है कि यज्ञदत्त का अभिप्राय है–मुझ (देवदत्त) में ओदन पकाने के प्रति प्रवत्ति उत्पन्न करना ताकि मैं ओदन पकाऊँ। इस प्रकार यज्ञदत्त के उक्त वाक्य से देवदत्त में ओदन पकाने की प्रवत्ति उत्पन्न होती है और उसके अनुसार वह तण्डुलादि सामग्री लेकर ओदन पकाने की क्रिया सम्पन्न करता है। यहाँ यज्ञद त्त का उक्त 'अभिप्राय' ही भावना है क्योंकि देवदत्त की 'प्रवत्ति' उत्पन्न होने में वही 'कारण' है। मीमांसा की पारिभाषिक शब्दावली में इसे 'शाब्दी भावना' कहते हैं। देवदत्त की इस प्रवत्ति का विषय है––ओदन–पाचन'। इस पाकात्मक क्रिया के अनुष्ठान में देवदत्त की उक्त प्रवत्ति ही 'अनुकूल' अर्थात् कारण है। देवदत्त की इस प्रवत्ति को मीमांसक "आर्थी भावना" कहते हैं।

'भावना' व्यापार विशेष अर्थात् क्रिया विशेष है। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है–"भाव्यते अनया इति भावना।" अर्थात् जिसके द्वारा होने के लिए प्रेरित किया जाये। जिस प्रकार क्रिया के द्वारा कुछ करने की ओर प्रवत्त हुआ जाता है, उसी प्रकार भावना के द्वारा भी कुछ उत्पन्न होने की ओर प्रवत्त हुआ जाता है।

यहाँ यह स्मरणीय रहे कि जिस प्रकार श्रोता शब्द पहले सुनता है, अर्थाधिगमन बाद में करता है किन्तु वक्ता के मस्तिस्क में उच्चार्यमाण शब्द का अर्थ और प्रयोजन पहले से ही विद्यमान होते हैं, इसी प्रकार शाब्दीभावना पहले और आर्थीभावना बाद में रहती है। अभिप्रायः यह है कि शाब्दीभावना आर्थीभावना को उत्पन्न करती है।

भेद :-

भावना के दो भेद माने गये हैं–शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना। 'यजेत् स्वर्गकामः।' इस वाक्य में 'यजेत्' पदस्थ 'त' प्रत्ययनिष्ठ लिङ् लकार में शाब्दी भावना है जिसका अभिप्रायः है–श्रोता में याग की प्रवत्ति उत्पन्न करना। श्रोता में याग की

प्रवत्ति, आर्थीभावना कहलायेगी क्योंकि वह याग के मुख्य प्रयोजन भूत अर्थ (फल) के साथ अव्यभिचारिणी (नियम का उल्लंघन न करने वाली) होती है, अर्थात् श्रोता में याग करने की प्रवत्ति उत्पन्न होने के बाद उसके द्वारा याग का अनुष्ठान किये जाने पर स्वर्गादि फल अवश्य प्राप्त होता है लेकिन शाब्दी भावना के सम्बन्ध में यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि यदि उपर्युक्त वाक्य को सुनकर श्रोता में याग करने की प्रवत्ति उत्पन्न नहीं होती तो याग में अप्रवर्तमान् (न लगे हुए) श्रोता को स्वर्गादिफल (अर्थ) की प्राप्ति नहीं हो सकती।

१. **शाब्दीभावना :-** प्रयोजक का वह मानस व्यापार (अभिप्राय विशेष) जो प्रयोज्य पुरुष में प्रवत्त्युत्पादन का हेतु है, शाब्दी भावना कहा जाता है। प्रयोजक का यह अभिप्राय विशेष 'लिङ्' पद का वाच्यार्थ होता है क्योंकि लिङ् पद को सुनकर ही यह अनुभव करता है–"यह प्रयोजक पुरुष मुझे प्रवत्त कर रहा है, यह मेरी प्रवत्ति में अनुकूल व्यापार वाला है।" इस प्रकार का अनुभव ही इस बात का प्रमाण है कि 'लिङ्' पद का अर्थ 'शाब्दीभावना' है क्योंकि लिङ् पद के सुनने पर ही उक्त प्रकार का अनुभव होता है, अन्य पद के सुनने पर नहीं। वस्तुतः जिस शब्द से जो अर्थ नियमतः प्रतीत होता है वही उसका वाच्यार्थ होता है क्योंकि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होता है, जैसे–'गो' शब्द से हमेशा 'गोत्व' का ही बोध होता है, शुक्ल, कृष्ण आदि वर्णों का नहीं।

शाब्दीभावना के तीन अंश :- शाब्दीभावना में साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता, ये तीन अंश नितान्त अपेक्षित होते हैं जिस प्रकार विधिपरक 'यजेत्' पद के सम्बन्ध में किं यजेत्, केन यजेत् और कथं यजेत् इन तीनों रूपों में जिज्ञासा होती है, उसी प्रकार भावना से सम्बन्धित 'भावयेत्' पद के सम्बन्ध में भी किं भावयेत, केन भावयेत्, कथं भावयेत्–इन तीनों रूपों में जिज्ञासा होती है। किं भावयेत् से साध्य की, केन भावयेत् से साधन की और कथं भावयेत् से 'इति कर्त्तव्यता' की आकांक्षा होती है।

साध्य :– शाब्दीभावना का साध्य क्या है ? उत्तर है–आर्थीभावना। क्यों ? क्योंकि एक ही प्रत्यय से दोनों भावनाओं का बोध होता है। उदाहरणार्थ–यजेत् पदस्थ एक ही 'त' प्रत्यय से शाब्दी एवं आर्थी दोनों की भावनाओं का क्रमशः बोध होता है। इस प्रकार दोनों भावनाओं में भावक–भाव्य सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है। शाब्दीभावना 'भावक' (कराने वाली) तथा आर्थी भावना भाव्य (होने वाली)।

साधन :- शाब्दी भावना का 'साधन' लिङादि ज्ञान है। साधन को करण भी कहते हैं यहां लिङादि का तात्पर्य लट्, लेट्, लोट आदि लकारों से भी है क्योंकि जिस प्रकार लिङ्ग से भावना का बोध होता है उसी प्रकार लट्, लोट् आदि लकारों से भी शाब्दी एवं आर्थी भावना का बोध होता हैं। जैसे–'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य में 'जुहोति' पदस्थ 'ति' प्रत्यय के लट् अंश से भी 'यजेत् स्वर्गकामः' के समान एक ही विषय का प्रतिपादन किया गया है।

इतिकर्त्तव्यता :- कर्त्तव्य के प्रकार को 'इतिकर्त्तव्यता' और सामान्य के भेदक विशेष को प्रकार कहते हैं। आर्थी भावना के साध्य होने के कारण 'इतिकर्त्तव्यता' का सम्बन्ध आर्थी भावना से है। इस प्रकार 'कथं भावयेत्' वाक्य का अभिप्राय हुआ–आर्थी भावना को किस प्रकार निष्पन्न करें। अभिप्रायः यह है कि 'यजेत् स्वर्गकामः' जैसे विधि वाक्यों में 'कथं यजेत्' जैसी आकांक्षा उत्पन्न होने पर अर्थवाद द्वारा यागादि की प्रशंसा करके उक्त आकांक्षा का शमन किया जा सकता है। इस आकांक्षा के शमन (शान्त होने) में उक्त 'प्रकार की यागादि की प्रशंसा' ही विशेष करण (हेतु) है जिसे यहां 'इति कर्त्तव्यता' कहा गया है। ध्यान रहे कि आर्थीभावना की उत्पत्ति में लिङादि ज्ञान भी करण होता है किन्तु वह 'सामान्यकरण' है जबकि इतिकर्त्तव्यता विशेष करण होती है।

आर्थीभावना :- स्वर्गादिप्रयोजनरूपफलविषयक (स्वर्गादि उद्देश्य के फल सम्बन्धी) इच्छा से उत्पन्न यागादि रूप क्रिया विषयक व्यापार 'आर्थीभावना' कहा जाता है। जैसे 'यजेत् स्वर्गकामः' वाक्य को सुनकर पुरुष में स्वर्ग प्राप्त करने की इच्छा होती है परन्तु स्वर्गरूप प्रयोजन की प्राप्ति यागादि रूप क्रिया से ही संभव है। अतः श्रोता में स्वर्गरूप प्रयोजन को प्राप्त करने की इच्छा से यागादि रूप क्रिया के सम्पादन करने की प्रवत्ति उत्पन्न होती है। पुरुष की यह याग विषयक प्रवत्ति ही उसका मानसिक व्यापार है और इसी को 'आर्थीभावना' कहते हैं।

आर्थीभावना के तीन अंश :– आर्थीभावना भी साधन साध्य और इतिकर्त्तव्यता इन तीन अंशों की–किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेत् के रूप में आकांक्षा रखती है।

साध्य :– इस आर्थीभावना का साध्य स्वर्गादिफल है। आर्थीभावना से उत्पन्न होने पर स्वर्गादिकाम पुरुष याग का सम्पादन करता है। और यज्ञ निष्पादन के पश्चात् ही कालान्तर में मरणोपरान्त स्वर्गादिफल की प्राप्ति होती है।

साधन :– आर्थी भावना को 'केन भावयेत्' इस रूप में साधनाकांक्षा होने पर 'यागादि ही साधन है।' यह उत्तर प्राप्त होता है। इसमें स्वयं वेद वाक्य प्रमाण है। जैसे 'यजेत् स्वर्गकामः' इस वैदिक विधि वाक्य से ज्ञात होता है कि याग करने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। अतः यागादि क्रियाएं ही स्वर्गादिफलरूप साध्य की साधन हैं।

इति कर्त्तव्यता :- कथं भावयेत् के रूप में इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाजादि अंग समुदाय के अनुष्ठान से यह उत्तर प्राप्त होता है अर्थात् प्रयोजनफल रूप साध्य स्वर्गादि को प्रयाज, अनुयाज आदि अंगों के अनुष्ठानपूर्वक यागानुष्ठान से सिद्ध करें।

३. वेद का लक्षण तथा उसके विभाग

वेद का लक्षण :– "अपौरुषेयं वाक्यं वेदः।" वेद के इस लक्षण में अपौरुषेय और वाक्य ये दोनों पद वेद के स्वरूप को भलिभांति स्पष्ट कर देते हैं–

प्रथमतः वेद वाक्यात्मक (शब्दात्मक) होते हैं, किन्तु महाभारतादि के वाक्यों अथवा मनु–याज्ञवल्क्यादि ऋषियों के धर्मशास्त्रीय वाक्यों में 'वाक्यात्मक वेद' की अतिव्याप्ति को रोकनें के लिए दूसरा विशेषण 'अपौरूषेय' दिया है। महाभारत आदि ऋषि प्रणीत होने के कारण पौरुषेय हैं। किन्तु सभी अपौरुषेय पदार्थ वेद नहीं हो सकते। परमाणु काल में आत्मा आदि अनेक पदार्थ 'अपौरुषेय' होंते हैं, किन्तु वे 'वाक्यात्मक' नहीं होते। अतः उन्हें वेद नहीं कहा जा सकता। इसीलिए उक्त लक्षण में 'वाक्य' पद सन्निविष्ट किया गया है।

इस प्रकार "अपौरुषेय वाक्य" के रूप में वेद का लक्षण निश्चित किया गया है।

वेद के विभाग – वेद के पांच विभाग किये गये हैं :–

१. विधि, २. मन्त्र, ३. नामधेय, ४. निषेध तथा ५. अर्थवाद। इन सभी का विवेचन इस प्रकार है :–

१. विधि :– अलौकिक विषयों पर प्रकाश डालने वाले वाक्य ही विधि हैं। विधि का लक्षण है–तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः अर्थात् अज्ञात अर्थ को बतलाने वाला वेद का भाग विधि कहा जाता है। वह विधि उस अर्थ का विधान करती है जो दूसरे प्रमाण से ज्ञात नहीं है। अतः अज्ञात और प्रयोजनयुक्त अर्थ के विधान से विधि की सार्थकता है। विधि की तीन विशेषतायें हैं :–

१. विधि अज्ञात अर्थ को बतलाती है।
२. विधि प्रयोजन से युक्त होती है।
३. विधि भावना प्रदान करती है।

जैसे–"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।" स्वर्ग की कामना से अग्निहोत्र यज्ञ करे। यह अज्ञात अर्थ है जो किसी भी प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से ज्ञात नहीं है। इस विधि का प्रयोजन है–स्वर्ग की प्राप्ति तथा भावना है–"अग्निहोत्रहोमेन स्वर्ग भावयेत्।" इस प्रकार विधि की सार्थकता है।

२. मन्त्र :– प्रयोगसमवेतार्थस्मारकाः मन्त्राः। प्रयोग से सम्बन्धित प्रयोजन को जो स्मरण करते हैं, वे मन्त्र हैं। अर्थात् यागानुष्ठान से सम्बन्धित उपयुक्त पदार्थों का स्मरण करना मन्त्र का कार्य है। याग के दो रूप होते हैं–द्रव्य और देवता। इन दोनों ही रूपों का स्मरण या यों कहिये कि इन दोनों का निश्चय मन्त्रों द्वारा ही किया जाता है। मीमांसा की दष्टि में वेद का एक–एक शब्द सार्थक है तो पूरे मन्त्र को निरर्थक नहीं माना जा सकता। मन्त्रों का प्रयोजन दष्ट होता है।

यहाँ शंका उठती है कि–मन्त्रों का तो अदष्ट प्रयोजन मानना चाहिये क्योंकि अनुष्ठान काल में मन्त्रों के यथास्थान उच्चारण से अदष्ट फल (पुण्य) की प्राप्ति होती है, अतः मन्त्रों का दष्ट प्रयोजन मानना ठीक नहीं।

किन्तु मीमांसकों की दष्टि में उक्त प्रकार की शंका निर्मूल है। उनका कहना है कि जब मन्त्रों का दष्ट फज माना जा सकता है ञ(यहाँ मन्त्रोच्चारण का दष्ट फल स्मरणात्मक रूप है) तो फिर अदष्ट प्रयोजन की कल्पना करना उचित नहीं है। जब कोई वस्तु सामने है तो उसे छोड़कर केवल काल्पनिक वस्तु के पीछे दौड़ना कहाँ तक ठीक कहा जा सकता है।

३. नामधेय :– "नामधेयानां व विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्वम्।" अर्थात् विधेयार्थ का निश्चय करने से नामधेय की सार्थकता है। वस्तुतः नामधेय का अर्थ है–संज्ञा अर्थात् किसी यज्ञ का नाम। नामधेय विधेयार्थ–क्रिया मात्र का बोध कराते हैं।

मीमांसा मं 'नामधेय' एक पारिभाषिक शब्द है जो वस्तुतः यागनामधेय का संक्षिप्त रूप है। जहाँ किसी विधि वाक्य में

प्रयुक्त किसी शब्द को उसके यौगिक अर्थ का बोधक न मानकर किसी याग विशेष का नाम मान लिया जाता है, वहाँ वह शब्द 'नामधेय' कहा जाता है। जैसे 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' यह एक विधिवाक्य है। यहाँ पर यज्ञ का साधन उद्भिद् है। उद्भिद् के दो अर्थ हैं–१. कुदाल २.यज्ञ का नाम विशेष। यहाँ पर उद्भिद् अर्थ कुदाल तो नहीं किया जा सकता अतः यज्ञ ही हो सकता है। यजेत् क्रिया है और पशु की कामना फल है। इनसे उद्भिद् का अर्थ यज्ञ–विशेष ही होता है। अतः नामधेय की सार्थकता इसी में है कि वह अन्य अर्थों की निवत्ति कर यज्ञ विशेष का विधेय प्रस्तुत करता है।

४. निषेध :– "पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः।" अर्थात् जो वाक्य पुरुष को क्रिया करने के लिए मना करते हैं, उन्हें निषेध कहते हैं। निषेध वाक्यों का उद्देश्य है, अनर्थ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं से पुरुष को हटाना या रोकना। निषेध स्वभाव से ही प्रवर्तना का विरोधी होता है क्योंकि अनर्थोत्पादक क्रियाओं के करने से रोकता है। जिस प्रकार विधि वाक्य विधीयमान् यज्ञ आदि के लिए प्रवत्त कराता है, उसी प्रकार निषेध वाक्य अनिष्ट कार्य से निवत्त कराता है। उदाहरण के लिए 'न कलजं भक्षयेत् (कलज नहीं खाना चाहिए)। अतः यह निषेधवा क्य अनिष्टकारी कलज के खाने को मना करता है। अतः यह निषेध वाक्य है।

५. अर्थवाद :–"प्राशस्त्यनिन्दान्यतपरं वाक्यं अर्थवादः।" अर्थात् प्रशंसा अथवा निन्दा करने वाले वाक्य को अर्थवाद कहते हैं। अर्थवाद विधेय अर्थ की प्रशंसा करता है तथा निषिद्ध अर्थ की निन्दा करता है। अर्थात् प्रवत्ति और निवत्ति में सहायक हैं। अर्थवाद वाक्य स्वयं में एक प्रकार से अ धूरा ही होता है। प्रशंसापरक अर्थवाद को विधिवाक्य की और निन्दापरक अर्थवाद को निषेधवाक्य की आवश्यकता रहती है। इस प्रकार विधि और अर्थवाद में, निषेध और अर्थवाद में एकवाक्यता होती है। अर्थवाद के दो भेद माने गये हैं–१. विधि शेष और २. निषेध शेष। विधिशेष अर्थवाद में विधि और निषेधशेष अर्थवाद में निषेध वाक्य प्रमुख होता है तथा अर्थवाद उसका पूरक होता है। अर्थवाद वाक्य क्रियापरक या धर्मपरक होते हैं। यही इनकी सार्थकता है।

४. विधि का लक्षण तथा उसके प्रकार

गन्थकार ने विधि का विवेचन तीन स्थानों पर किया है। एक स्थान पर उन्होंने विधि को इन–"उत्पत्ति विधि, गुण विधि तथा गुण विशिष्ट विधि" तीन भेदों में विभाजित किया है।

दूसरे स्थल पर लौगाक्षिभास्कर ने विधि के इन चार–'"उत्पत्तिविधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि तथा प्रयोग विधि" प्रभेदों का विवेचन किया है।

विधियों का एक विभाजन मन्त्र प्रकरण में भी तीन प्रकार–"अपूर्व विधि, नियम विधि तथा परिसंख्या विधि" उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त विधियों में सर्वप्रथम कथित तीन विधि महत्त्वपूर्ण हैं। इनका विवेचन इस प्रकार है :–

विधि की परिभाषा :– प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों से अज्ञात अर्थ का बोध कराने वाले वैदिक वाक्य विधि कहे जाते हैं। ये वाक्य न केवल विधि के अन्य भेदों में अपितु सभी प्रकार के वेद वाक्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। वेद का वेदत्व विधि की इसी विशेषता के कारण है–

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता।।

अर्थात्–प्रत्यक्ष प्रमाण से या अनुमिति से जो विषय नहीं जाना जाता, उस विषय को हम वेद के द्वारा जान पाते हैं और इसी से वेद की वेदता (ज्ञातता) सिद्ध होती है।

इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार के लिए वेद जिन उपायों को बताता है, वे उपाय लौकिक नहीं अलौकिक होते है–

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारपोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद।"

विधि प्रकार विवेचन :-

१. प्रधान विधि :– "तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः।" अर्थात् अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराने वाला वेदभाग विधि है। वेद प्रतिपादित इन अलौकिक उपायों का ज्ञान प्रत्यक्षादि लौकिक प्रमाणों से सम्भव नहीं है। विधि जिस विषय का ज्ञान कराती है, उसका कुछ न कुछ प्रयोजन अवश्य रहता है। इस प्रकार, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अज्ञात, प्रयोजनवान् विषय का ज्ञान कराना

विधि का लक्षण है। किन्तु स्मरण रहे कि अज्ञात विषय का मात्र ज्ञान कराना ही उसका लक्ष्य नहीं है, अपितु वह ज्ञान सप्रयोजन होता है।

अतः क्रिया विशेष के सम्पादन का भी वह विधान करती है। इससे ज्ञात होता है कि विधि के प्रमुख कार्य हैं :–

१. विधि उस अज्ञात अर्थ का ज्ञान कराती है जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात नहीं है।

२. विधि का अर्थ सप्रयोजन होता है।

३. विधि क्रिया विशेषण का विधान करती है जिससे उस क्रिया में प्रवत्त करने की प्रेरणा भी देती है।

इसी कारण वेद में विधि की सार्थकता सिद्ध होती है। उदाहरण–"अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" यह एक विधि वाक्य है। अग्निहोत्र के सम्पादन का फल स्वर्ग प्राप्ति है, अतः अग्निहोत्र 'प्रयोजनवान्' अर्थ हुआ। दूसरे शब्दों में अग्निहोत्र क्रिया और उसका फल है स्वर्ग–प्राप्ति। अग्निहोत्र और स्वर्ग प्राप्ति – दोनों में साधन–साध्य सम्बन्ध है जिसका बोध वाक्यगत भावना से भलिभांति हो जाता है। भावना के दो प्रधान अंशों साधन और साध्य का क्रमशः ततीया एवं द्वितीया विभक्ति से बोध होता है। अतः 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य का अग्निहोत्र–होमेन स्वर्गं भावयेत् रूप में अर्थ होता है। यहाँ अग्निहोत्र होम का ज्ञान वेद के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से नहीं हो पाता। यही नहीं, यह विधि अग्निहोत्र होम क्रिया का विधान कर उसमें स्वर्गकाम व्यक्ति को प्रवत्त भी करती है।

गुणविधि :– जहाँ पर कर्म (यागादि) दूसरे प्रमाण से प्राप्त हों, वहाँ पर जो विधि उस कर्म को उद्दिष्ट करके गुणमात्र का विधान करती है गुणविधि कहलाती है। जैसे 'दध्ना जुहोति' गुण विधि मुख्य क्रिया के अंगभूत द्रव्य या देवता का विधान करती है। इसे ही गुण विधान कहते हैं। गुण हमेशा अप्रधान या गौण होता है। जब मुख्य कर्म या विधान किसी अन्य प्रमाण से हुआ रहता है, तब यह विधि उस मुख्य कर्म के अङ्गभूत द्रव्यादि का विधान करती है। जैसे 'दध्ना जुहोति' यह विधि वाक्य केवल 'दधि' द्रव्य का विधान करता है। यहाँ 'जुहोति' अंश अर्थात् होम का विधान तो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।" इस वाक्य से पहले ही प्राप्त हो चुका है। 'दध्ना जुहोति' इस विधि वाक्य में 'जुहोति' का अर्थ 'होम' ही प्रमुख है, उसी का उद्देश्य करके उसके अङ्गभूत द्रव्य 'दधि' का विधान इस विधिवाक्य द्वारा किया जाता है। इस विधि वाकय में 'दध्ना' साधन है और 'होम' साध्य है। इस विधि वाक्य का भावानुकूल अर्थ 'दध्ना होमं भावयेत्' होगा।

साध्य के समक्ष साधन गौण ही रहता है। अतः यहाँ दधि रूप गुण (साधन) का विधान होने के कारण गुणविधि है।

गुण विशिष्ट विधि :– जहाँ पर दोनों (कर्म औद गुण) अप्राप्त हों वहाँ पर जो विधि विशिष्ट का विधान करती है, गुण विशिष्ट विधि कहलाती है। जैसे 'सोमेन यजेत्' गुणविशिष्ट विधि कर्म और गुण – दोनों का विधान करती है। किन्तु यहाँ शंका हो सकती है कि एक ही काल में एक वाक्य के द्वारा दो पदार्थों का विधान कैसे हो सकता है ?

इस शंका के निराकरण में मीमांसक कहते हैं कि विधिवाक्य से केवल एक पदार्थ–होम आदि मुख्य क्रिया का विधान मानकर तथा गुण को उस मुख्य क्रिया (विशेष्य) और गुण (विशेषण) में विशेषण–विशेष्य भाव सम्बन्ध होने के कारण विशेष्य भूत क्रिया के विधान के अन्तर्गत विशेषणभूत गुण भी आ जाता है। इस कार्य का सम्पादन लक्षणा शक्ति के द्वारा होता है। 'सोमेन यजेत्' यह गुण विशिष्ट विधि का उदाहरण है। यहाँ मुख्य कर्म 'याग' का विधान किसी अन्य प्रमाण से नहीं, अपितु –सोमेन यजेत्' वाक्य से ही प्राप्त होता है। इसी प्रकार 'सोमेन' पद का अर्थ लक्षणा से 'सोमवता' लेने पर 'सोम' गुण का भी विधान इसी विधि वाक्य के द्वारा हो जाता है। वस्तुतः 'सोम' गुण है। 'सोमेन' पद में मत्वर्थलक्षणा मानने से अर्थात् 'सोमेन' का अर्थ 'सोमवता' मान लेने पर 'सोमवता' पद 'सोमेन यजेत्' वाक्य द्वारा विधेय याग का विशेषण बन जाता है।

तब 'सोमेन यजेत्' वाक्य का अभिप्राय होता है–"सोमवता यागेन इष्ट भावयेत्" अर्थात् सोमयुक्त याग से इष्ट (स्वर्ग) की भावना करे। 'सोमवता' विशेषण और यागेन विशेष्य है जो एक दूसरे से पथक् नहीं है। इस प्रकार उक्त विधि वाक्य से 'याग' के साथ–साथ 'सोम' गुण का भी विधान होने के कारण यहाँ विशिष्ट विधि हुई।

ओ३म्

महामहोपाध्यायलौगाक्षिभास्कर प्रणीतः

अर्थसंग्रहः

वासुदेवं रमाकान्तं नत्वा लौगाक्षिभास्करः।

कुरुते जैमिनिनये प्रवेशायार्थसंग्रहम्।। १।।

अर्थ—लक्ष्मीपति विष्णु को प्रणाम कर लागाक्षिभास्कर महर्षि जैमिनि द्वारा सूत्रबद्ध किये गये मीमांसाशास्त्र में प्रवेश कराने के लिए—'अर्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना कर रहे हैं।

(१) अथ परमकारुणिको भगवाजैमिनिर्धर्मविवेकाय द्वादशलक्षणीं प्रणिनीय तत्रादौ धर्मजिज्ञासां सूत्रयामास-'अथातो धर्मजिज्ञासे'ति। (जै०सू०१।१।१) अत्राथशब्दो वेदाध्ययनान्तर्यवचनः। अतः शब्दो हि वेदाध्ययन दष्टार्थत्वं ब्रूते।

'स्वाध्यायोध्येतव्य' इत्यध्ययनविधौ तदध्ययनस्यार्थज्ञाषनरूपदष्टार्थकत्वेन व्यवस्थापनात्। तथा च वेदाध्ययनानन्तरं यतोर्थज्ञानरूपदष्टार्थकं तदध्ययनमतो हेतोधर्मस्य वेदार्थस्य जिज्ञासा कर्तव्येति शेषः। जिज्ञासापदस्य विचारे लक्षणा। अतो धर्मविचारशास्त्रभिदभारम्भणीयमिति शास्त्रारम्भसूत्रार्थः।

अर्थ—अतीव करुणामय श्रीमान जैमिनि मुनि ने धर्म के वास्तविक स्वरूप के ज्ञान के लिये बारह अध्यायों वाले 'मीमांसासूत्र' ग्रन्थ की रचना करके वहाँ प्रारम्भ में धर्म के विषय में जिज्ञासा को सूचित किया कि—ञ(**अथ अतः धर्म जिज्ञासा**)—वेदाध्ययन के अनन्तर अर्थज्ञानरूप दढ़ प्रयोजन की सिद्धि के लिये वेद के अर्थस्वरूप धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये। यहाँ इस सूत्र में 'अथ' शब्द वेद के अध्ययन के आनन्तर्य का वाचक है। सूत्र में प्रयुक्त 'अतः' पद वेद के अध्ययन की दढ़—प्रयोजनता को व्यक्त करता है। 'स्वाध्योयोध्येतव्य'' अध्ययन के विधायक रस वाक्य में वेद के अध्ययन का अर्थज्ञानरूप दढ़—प्रयोजन निर्धारित किया गया है। इस प्रकार इस अथानो आदि पूरे सूत्र का अर्थ हुआ कि वेद के अध्ययन का दढ़फल उसके अर्थ का ज्ञान है इसलिये वेदाध्ययन के पश्चात् वेद के अर्थभूत धर्म के ज्ञान की इच्छा करनी चाहिये। सूत्र में 'कर्त्तव्या' पद उपात्त नहीं है, छूट गया है अतः अर्थ की संगति के लिये उसका अध्याहार कर लेना चाहिये। 'जिज्ञासा' पद में 'विचार' अर्थ की प्राप्ति के लिये लक्षणाशक्ति का ग्रहण अपेक्षित है। 'जिज्ञासा' पद के अर्थ का विचार करते समय 'लक्षणा' शक्ति का आश्रय लेना चाहिये। इसलिये मीमांसाशास्त्र के इस प्रारम्भिक सूत्र का अर्थ यह हुआ कि धर्म पर विचार करने वाले इस शास्त्र का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहिये।

विशेष :- बारह अध्यायों वाले मीमांसा शास्त्र के प्रणेता आचार्य जैमिनी धर्म जिज्ञासा का आरम्भ करते हैं—अथातो धर्म जिज्ञासा। हमारी शास्त्र परम्परा में "अथ" शब्द के अनेक अर्थ हैं जैसे—मङ्गल, अनन्तर, आरम्भ, प्रश्न आदि। इस सूत्र में 'अथ' शब्द का अर्थ आनन्तर्य है। अनन्तर कहने से किसी पूर्ववर्त्ती की आकांक्षा होती है यहाँ वेदाध्ययन ही पूर्ववर्ती कर्म हो सकता है। उसके अनन्तर ही धर्मजिज्ञासा अर्थात् वेदार्थविचार करना चाहिए। वेदाध्ययन के बिना वेदार्थ—विचार रूप धर्मजिज्ञासा का उदय नहीं हो सकता। अतः 'अथ' शब्द के सामर्थ्य से ही वेदाध्ययन पूर्ववर्ती कर्म होकर धर्मजिज्ञासा का हेतु बन जाता है। यद्यपि सामान्य दष्टि से सूत्र में प्रयुक्त 'अथः' पद निरर्थक प्रतीत होता है परन्तु पूज्यमहर्षि द्वारा प्रणीत कोई भी पद निरर्थक नहीं हो सकता। यदि कहा जाये कि 'अथ' शब्द का तात्पर्य मङ्गलाचारण है तो यह उपयुक्त नहीं है। 'अथ' शब्द वस्तुतः मङ्गल का सूचक है वाचक नहीं है। अतः 'अथ' शब्द आनन्तर्य बोधक होने के साथ—साथ वेदार्थ विचार का हेतु भी है।

परम्परा के अनुसार मीमांसाशास्त्र जिसे वेदार्थ विचार भी कहा जाता है—'स्वाध्यायोध्येतव्यः'' इस विधि से नियन्त्रित है। इस विधि वाक्य का अभिप्राय यह है कि अपने अधिकार के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी अपनी शाखा का अध्ययन गुरु से अर्थज्ञानपूर्वक परम्परानुसार करना चाहिय। —अर्थज्ञान' को ही दष्टार्थ कहा गया है। क्योंकि 'लभ्यमाने फले दष्टे नादष्टपरिकल्पना' अर्थात् दष्टफल के रहते हुये अदष्ट फल की कल्पना न्यायोचित नहीं है। अतः यह शंका स्वाभाविक है कि 'स्वाध्यायोध्येव्यः' इस विधि का फल क्या है ? पूर्वपक्ष के मत में विश्वजित् न्याय के अनुसार स्वर्ग ही हो सकता है। विधिवाक्य के रहते यदि श्रुति समर्पित फल न हो तो इस प्रकार के स्थल में स्वर्गरूप फल की कल्पना कर लेनी चाहिये। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वाध्यायविधि का अक्षरग्रहणात्मक—अध्ययन रूप अर्थ किया गया है जिसका तात्पर्य केवल अक्षरमात्र के ग्रहण से नहीं अपितु अक्षर के साथ—साथ अर्थ के ग्रहण से भी है। अतः अर्थावबोध अर्थात् अर्थ का ज्ञान अध्ययन का दष्ट फल होता है। दष्टफल के होने पर अदष्टफल की कल्पना उचित नहीं क्योंकि अर्थज्ञानरूप प्राप्त फल का परित्याग कर अप्राप्त स्वगरूप

फल की कल्नना करने से कल्पना गौरव दोष भी आ जाता है, अतः स्वर्ग 'स्वाध्यायविधि' का फल नहीं हो सकता अर्थज्ञान ही इसका फल है। इस प्रकार सूत्र में प्रयुक्त "अतः" पद का अर्थ हुआ कि वेद राशि कण्ठस्थ कर लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसका अर्थ भी जानना आवश्यक है।

प्राभाकर मत के अनुसार 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' यह विधि मीमांसारूप विचारशास्त्र का प्रयोजक नहीं है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर 'वेदमधीत्य स्नायात्' अर्थात् वेद का अध्ययन करके समावर्त्तन स्नान करें—यह विधि बाधित होती है। परन्तु कुमारिल भट्ट का मत इससे भिन्न है। उनके मत में वेदाध्ययन का फल अर्थज्ञानरूप दष्ट है। अतः यह विधि ही प्रयोजक है।

धर्मजिज्ञासा पद का लाक्षणिक अर्थ धर्मविचार है। 'ज्ञा' धातु का अर्थ ज्ञान और 'सन्' प्रत्यय का अर्थ इच्छा है इसलिये ज्ञानार्थक 'ज्ञा' धातु का अजहल्लक्षणा से अनुष्ठानोपयोगि ज्ञान अर्थ समझना चाहिये और इच्छार्थक 'सन्' प्रत्यय का जहल्लक्षणा से विचार अर्थ समझना चाहिये। इसलिए सूत्र का अर्थ हुआ कि इस धर्मविचारशास्त्र का आरम्भ करना चाहिये।

(२) अथ को धर्मः किं तस्य लक्षणमिति चेत्। उच्यते-यागादिरेव धर्मः। तल्लक्षणं वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्म इति। प्रयोजनेतिव्याप्तिवारणाय प्रयोजनवदिति। भोजनादावतिव्याप्तिवारणाय वेदप्रतिपाद्य इति। अनर्थफलकत्वादनर्थभूते- श्येनादावतिव्याप्तिवारणायार्थ इति।

न च 'चोदनालक्षणोर्थो धर्म' (जै० सू० १।१।२) **इति सौत्रतल्लक्षणविरोधः, चोदनापदस्य विधिरूपवेदैकदेशपरत्वादिति वाच्यम्। तत्रापि चोदना-शब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्। वेदस्य सर्वस्य धर्मतात्पर्यवत्त्वेन धर्मप्रतिपादकत्वात्।**

अर्थ—धर्म क्या है, उसका लक्षण क्या है, यदि ऐसा प्रश्न हो, तो उत्तर कहते हैं—याग आदि ही धर्म है। उसका लक्षण है—"वेद के प्रतिपादन का विषय, प्रयोजनयुक्त अर्थ धर्म है।" कहीं लोग धर्म को ही प्रयोजन न समझने लगें, अतः प्रयोजन में अतिव्याप्ति का निवारण करने के लिये लक्षण में प्रयोजन पद का प्रयोग न करके 'प्रयोजनवत्' इस पद का ग्रहण है। भोजन आदि स्वभाव प्राप्त विषयों में अतिव्याप्ति का वारण करने के लिये लक्षण में वेदप्रतिपाद्यः' इस पद का सन्निवेश किया गया है। अनर्थ फलदायक होने से अनर्थस्वरूप श्येन आदि कर्मों में अतिव्याप्ति की निवत्ति हेतु 'अर्थ' पद का ग्रहण है।

चोदनापद के विधिरूप वेद के अङ्ग का वाचक होने से 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इस सूत्र से लक्षित धर्म के लक्षण तथा (लोगाक्षिभास्कर द्वारा उक्त) धर्मलक्षण में विरोध है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वहाँ भी चोदना शब्द सम्पूर्ण वेद का वाचक है, न कि केवल विधिभाग का। वस्तुतः समस्त वेद भाग का तात्पर्य धर्म में होने से वह धर्म का ही प्रतिपादक माना जायेगा।

विशेष :- धर्मशास्त्र विचार का आरम्भ होते ही प्रथम प्रश्न हमारे मन में उठता है कि धर्म क्या है ? उसका स्वरूप अथवा लक्षण क्या है ? इसके समाधान हेतु ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर धर्म का लक्षण लिखते हैं :—

'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः' इस लक्षण में प्रत्येक पद की सार्थकता है अन्यथा लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं असम्भवादि दोष से युक्त हो जायेगा। इस लक्षण में तीन पद हैं—वेदप्रतिपाद्यः, प्रयोजनवान् एवं अर्थः। स्वर्गकामः यजेत इत्यादि वाक्यों में यज्ञविधान स्वर्ग प्राप्ति हेतु किया गया है। 'याग' वेद से विहित है। अतः वेद प्रतिपाद्य है। स्वर्ग प्राप्ति का प्रयोजन इससे सिद्ध होता है अतः 'प्रयोजनवान्' भी है अभिलषित वस्तु होने के कारण यह 'अर्थ' भी है। इस प्रकार यागादि को धर्म मानने में कोई दोष नहीं है। धर्म का लक्षण करने के अनन्तर ग्रन्थकार लक्षण में प्रयुक्त पदों की सार्थकता का विचार करता है। प्रथमतः 'प्रयोजनवत्' पद पर विचार करने से ही स्पष्ट है कि इस लक्षण में प्रयोजनवत् पद नहीं देने से स्वर्गादि रूप (प्रयोजन) अर्थ में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि स्वर्ग वेदप्रतिपाद्य और अर्थ है। प्रयोजनवत् पद देने पर स्वर्गादि सुखादिरूप है इसलिए इसका प्रयोजनान्तर नहीं है। अतः अतिव्याप्ति नहीं हुई। इसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य पद नहीं देने पर भोजनादि में अतिव्याप्ति होगी क्योंकि भोजन तप्त्यादि रूप प्रयोजन वाला और अर्थ भी है। परन्तु इस पद के सन्निवेश से भोजन आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी।

अर्थ पद भी साभिप्राय है। अर्थ पर नहीं प्रयुक्त करने पर अनर्थभूत श्येनादि में अतिव्याप्ति होगी। श्येनादि याग "श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादि वाक्य द्वारा वेदप्रतिपादित एवं शत्रुवध होने के कारण प्रयोजनवान् भी है। चतुर्थाध्याय में महर्षि जैमिनि ने इष्ट साधन के रूप में वेदबोधित श्येन कर्म को धर्म कहा है। अतः 'अर्थ' पद का व्यावर्त्य श्येन नहीं हो सकता। शत्रुवध नरकजनक होने के कारण श्येन कर्म भी अनर्थ है। केवल वेद्यमात्र के अभिप्राय से वेदबोधित श्येन कर्म को धर्म कहा है। वस्तुतः वह अनिष्ट जनक है, अतः उसके वारणार्थ 'अर्थ' पद का सन्निवेश आवश्यक है।

लौगाक्षिभास्कर के अनुसार 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थः धर्मः' यह धर्म का लक्षण है और जैमिनि महर्षि ने 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' यह लक्षण किया है। इस अवतरण में ग्रन्थकार ने दोनों लक्षणों में आपाततः प्रतीयमान विभिन्नता का परिहार किया है। वेद परम्परा के अनुसार पाँच भागों में विभक्त माना जाता है—यथा—विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद। पूर्वपक्ष का आशय

यह है कि सूत्रकार जैमिनि के मत में केवल विधि को ही धर्म का प्रवर्त्तक स्वीकार किया गया है अर्थसंग्रहकार ने समग्र वेद अर्थात् विधि मन्त्र नामधेयादि) को धर्म का प्रतिपादक माना है। अतः इस असामजस्य का परिहार कैसे हो सकता है? इस शङ्का का समाधान करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है–'तत्रापि चोदनाशब्दस्य वेदमात्रपरत्वात्–अर्थात् सूत्रकारीय धर्मलक्षण में चोदना पद का चोदना (विधि) तत्सम्बन्धी सभी वेदभागों का सूचक है। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधान के उल्लिखित होने पर तदतिरिक्त अन्य का भी ग्रहण हो जाता है। अतः सूत्रकार के मत से भी वेद प्रतिपाद्य अर्थ ही धर्म का लक्षण है।

(३) स च यागादिः 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिवाक्येन स्वर्गमुद्दिश्य पुरुषं प्रति विधीयते। तथा हि-यजेतेत्यत्रास्त्यंशद्वयं यजिधातुः, प्रत्ययश्च। प्रत्ययेप्यस्त्यंशद्वयमाख्यातत्वं लिङ्त्वं च। तत्राख्यातत्वं दशलकारसाधारणं लिङ्त्वंपुनर्लिङ्मात्रे। उभाभ्यामप्यंशाभ्यां भावनैवोच्यते।

भावना नाम भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः। सा च द्विधा-शाब्दीभावना आर्थीभावना चेति।

अर्थ–और उस धर्म के रूप में स्वीकृत याग आदि का 'यजेत स्वर्गकामः'–स्वर्ग के इच्छुक व्यक्ति को यज्ञ करना चाहिये–आदि वाक्य द्वारा स्वर्ग को लक्ष्य करके पुरुष के लिये विधान किया जाता है। जैसे कि–'यजेत' इस (धातु) के दो अंश हैं–यजि धातु तथा प्रत्यय। प्रत्यय में भी दो अंश हैं–आख्यातत्व और लिङ्त्व इनमें आख्यात दसों लकारों में होता है किन्तु लिङ्त्व केवल लिङ् में ही होता है। आख्यात तथा लिङ् इन दोनों अंशों से भावना का ही कथन होता है।

भावना उत्पन्न होने वाले फल या क्रिया की उत्पत्ति में सहायक उत्पादयिता उत्पादक का विशेष प्रकार का व्यापार है। वह भावना दो प्रकार की है–शाब्दी भावना तथा आर्थी भावना।

विशेष :- धर्म के लक्षण में ग्रन्थकार पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म साधन (प्रयोजनवान्) है। उसका साध्य उससे भिन्न स्वर्गादि है। "स च" आदि वाक्य से उसी भाव को स्पष्ट किया गया है।

ग्रन्थकार उसकी सिद्धि के लिये 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों के उद्धरण द्वारा प्रमाण उपस्थित कर रहा है। प्रस्तुत वाक्य में 'स्वर्गकाम' पद उद्देश्य एवं 'यजेत' पद विधेय हैं। अतः स्वर्ग को उद्देश्य करके याग का विधान करता है ऐसा स्पष्टार्थ है।

यजेत पद में धात्वंश एवं प्रत्ययांश दो धर्म हैं। धात्वर्थ याग वाचक है। प्रत्यय यद्यपि एक ही है तथापि उसके भीआख्यातत्व एवं लिङ्त्व दो धर्म हैं। तिङादि समस्त प्रत्ययों का व्यवहार 'आख्यात' पद से होता है। यह आख्यात 'या' लि ङ् धर्म लट्, लिट्, लुट्, लट्, लोट्, लङ्, लिङ् (विधि एवं आशीः) लङ् दशलकारों में विद्यमान रहता है। किन्तु लिङ् धर्म लिङ्त्व मात्र लिङ् लकार में ही रहता है। अतः यह सिद्धांत सर्वमान्य है कि आख्यात तथा लिङ्त्व इन दोनों से भावना का बोध होता है और इसी के कारण स्वर्गफल प्राप्ति हेतु पुरुष की यज्ञादि कर्मों में प्रवत्ति होती है।

भावना सामान्य का लक्षण 'भवितुर्भवानानुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः' किया गया है। इस लक्षण में शाब्दी–भावना एवं आर्थीभावना दोनों का ही स्वरूप स्पष्ट है। इस लक्षण के दो भाग किये जा सकते हैं – (i) भवितुर्भावनानुकूलः (ii) भावयितुर्व्यापारविश्रेषः। इन दोनों भागों में अभिव्यक्त आशय को 'यजेत स्वर्गकामः' विधिवाक्य को दष्टांत मानकर निम्न प्रकार से हृदयङ्गम किया जा सकता है। इस वाक्य में भावयिता (=प्रयोजक) 'यजेत' पद का लिङ् अंश है कोई पुरुष विशेष नहीं है। इस वाक्य का श्रवण करके 'स्वर्गकामः' व्यक्ति यज्ञादि में प्रव् त्त होता है अतः यागविषयक प्रवत्ति को ही 'भविता' से कहते हैं। प्रकृत लक्षण में भवितुः का अर्थ हे उत्पन्न होने वाला या उत्पद्यमान। यहाँ यागानुष्ठान के प्रति उन्मुखता ही 'भविता' या उत्पन्न होना कहा गया है। ('भवन' से तात्पर्य है 'उत्पत्ति' अनुकूल=सहायक, या कारणभूत, भावयितुः,–भावयिता=उत्पादयिता) 'गामानय' इस लौकिक उदाहरण में यज्ञदत्त ने देवदत्त से कहा–गाय लाओ। देवदत्त यज्ञदत्त का 'गामानय' वाक्य सुनकर सोचता है कि यज्ञदत्त मुझ में गवानयन की प्रवत्ति उत्पन्न करना चाहता है जिससे प्रेरित होकर मै। गाय लाऊँ। तदनुसार 'गवानयनानुकूल व्यापार' में देवदत्त प्रवत्त हो जाता है। इस परिस्थिति के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि गवानयनविषयक देवदत्त की प्रवत्ति उत्पन्न होने में सहायकभूत यज्ञदत्त का अभिप्रायः विशेष=व्यापारविशेष भावना है।

इस उदाहरण से यज्ञदत्त का अभिप्राय और देवदत्त की गवानयनविषय प्रवृत्ति दोनों भावना हैं। इनमें प्रथम प्रवत्ति शाब्दी भावना है और दूसरी आर्थी भावना है।

(४) तत्र पुरुषप्रवत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दीभावना। सा च लिङ्शेनोच्यते। लिङ्श्रवणेयं मां प्रवर्तयति मत्प्रवत्त्यनुकूलव्यापारवानयमिति नियमेन प्रतीतेः। यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्। यथा गामानयेत्यस्मिन्वाक्ये गोशब्दस्य गोत्वम्।

स च व्यापारविशेषो लौकिकवाक्ये पुरुषनिष्ठोभिप्रायविशेषः। वैदिकवाक्ये तु पुरुषाभावल्लिङादिशब्दनिष्ठ एव। अत एव शाब्दीभावनेति व्यवह्रियते। सा च भावना अंशत्रयमपेक्षते-साध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत् केन भावयेत्, कथं भावयेदिति।

तत्र साध्याकाङ्क्षायां वक्ष्यमाणांशत्रयोपेता आर्थीभावना साध्यत्वेनान्वेति एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभिधानश्रुतेः। संख्यादीनामेकप्रत्ययगम्यत्वेप्ययोग्यत्वान्न साध्यत्वेनान्वयः।

साधनाकाङ्क्षायां लिङादिज्ञानं करणत्वेनान्वेति। तस्य च करणत्वं न भावनोत्पादकत्वेन, तत्पूर्वमपि तस्या शब्दे सत्त्वात्। किन्तु भावनाज्ञापकत्वेन शब्दभावनाभाव्यनिर्वर्तकत्वेन वा।

इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायामर्थवादज्ञाप्यप्राशस्त्यमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अर्थ—उन शाब्दी तथा आर्थी भावनाओं में व्यक्ति की प्रवत्ति का जनक अथवा सहायक प्रयोजक का व्यापार विशेष शाब्दी भावना है। वह शाब्दीभावना प्रत्यय के लिङ् अंश से व्यक्त होती है, क्योंकि लिङ् का श्रवण होने पर निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि यह मुझे प्रवत्त कर रहा है अर्थात् यह मेरी प्रवत्ति के अनुकूल व्यापार करने वाला है। जो अर्थ जिस शब्द से नियमित होता है, वह अर्थ उस शब्द का वाच्य हो जाता है। जैसे 'गाम् आनय', इस वाक्य में गोशब्द का गोत्व अर्थ होता है। और वह व्यापारविशेष लौकिक वाक्य में पुरुष में स्थित अभिप्रायविशेष है किन्तु वैदिक वाक्य में पुरुष का अभाव होने से वह लिङ् आदि शब्दों में ही स्थित रहता है। इसीलिये उस शब्दनिष्ठ अभिप्रायविशेष को 'शाब्दी भावना' इस नाम से व्यवह्रत करते हैं।

और वह शाब्दी भावना तीन अंशों साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यता की अपेक्षा करती है। इन तीनों अंशों का क्रमशः अभिप्राय यह है कि इस शाब्दी भावना से किस फल को सिद्ध किया जाये, किस साधन से निष्पन्न किया जाये, तथा किस प्रकार से सिद्ध किया जाये। इन (तीनों) में से साध्य के विषय में आकांक्षा होने पर आगे कही जाने वाली तीनों अंशों से युक्त आर्थी भावना साध्य के रूप में अन्वित होती है, क्योंकि एक ही (त) प्रत्यय से ज्ञात होने के कारण एक ही अभिधाान से शाब्दी भावना के साथ ही आर्थी भावना का भी ग्रहण हो जाता है। संख्या आदि का भी एक (त) प्रत्यय से ही ज्ञान होने पर भी अयोग्य होने से अर्थात् साध्य आदि के रूप में आकांक्षा की पूर्ति में अक्षम अथवा अविवक्षित होने से उनकी साध्य के रूप में संगति नहीं बैठती। साधन की आकांक्षा होने पर लिङ् आदि का ज्ञान साधकतम साधन के रूप में अन्वित होता है। उस लिङ् आदि के ज्ञान की करणता इसलिए नहीं है कि उससे भावना की उत्पत्ति होती है। उस लिङ्गादि ज्ञान की करणता इसलिए नहीं है कि उससे भावना की उत्पत्ति होती क्योंकि उस लिङ् आदि का ज्ञान होने से पहले भी भावना शब्द में रहती ही है। अपितु लिङ् आदि का ज्ञान भावना के ज्ञापक के रूप में अथवा शाब्दी भावना के साध्य के साधक के रूप में करण होता है। इति कर्त्तव्यता अर्थात् व्यापार को कैसे किया जाये को जानने की इच्छा होने पर अर्थवाद से ज्ञाप्य प्रशस्तता इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित होती है।

विशेष :- उभयविध भावनाओं में शाब्दी भावना का लक्षण इस प्रकार है :—

'पुरुषप्रवत्त्यनुकूलो भावयितर्व्यापारविशेषः' 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वैदिक वाक्यों में 'यजेत' पद को सुनकर पुरुष में स्वर्गादि प्राप्ति के लिये यज्ञादि कार्यों मे प्रवत्ति देखी जाती है। शङ्का होती है कि यह प्रवत्ति क्यों उत्पन्न हुई ? मीमांसक की दष्टि से इसका समाधान प्राकृत संदर्भ में दिया गया है—जो शाब्दी भावना के स्वरूप को भी स्पष्ट करता है। प्रयोज्य पुरुष की प्रवत्ति के अनुकूल प्रयोजक वेद वाक्य या आचार्य के वाक्य (भावयितुः) के व्यापार विशेष को शाब्दी भावना कहा गया है। शाब्दी भावना 'लिङ्त्व' के 'त' प्रत्ययांश से है। लौकिक व्यवहार में जब भी हम प्रयोक्ता द्वारा 'उपासीत, स्नायात् या यजेत' आदि का प्रयोग सुनते हैं तब हमारे मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि यह प्रयोक्ता हमें किसी कर्म में प्रवत्त कर रहा है। अर्थात् प्रयोज्य को यह बोध होने लगता है कि प्रयोजक पुरुष में भावना विद्यमान है जिससे मुझ में उपासना, स्नान या यज्ञादि कर्म करने की प्रवि्त्ति उत्पन्न हो। वस्तुतः यह अनु भव 'लिङ्' शब्द के सुनने से ही होता है। परन्तु ऐसा क्यों होता है ? इसका समाधान ग्रन्थकार ने 'यद्यस्माच्छब्दान्नियमतः प्रतीयते तत्तस्य वाच्यम्', अर्थात् जो जिस शब्द से नियमतः प्रतीत होता है वह उस शब्द का वाच्य (अर्थ) है, इन पंक्तियों द्वारा प्रस्तुत किया है।

इस नियम को समझाने की दष्टि से जैमिनि के 'आकृतिस्तु श ब्दार्थः' सूत्र के आधार पर गो शब्द से 'गोत्व' (आकृति को) समझना चाहिये, यह भी प्रतिपादित किया है। इस प्रकार लिङादि विधायक वाक्यों का प्रवत्ति के अनुकूल व्यापार में शक्ति स्वीकार करनी चाहिये। प्रवत्यनुकूलव्यापार ही प्रवर्तना है और यह प्रवर्तना ही शाब्दी भावना है, ऐसा सिद्ध होता है।

प्रवत्ति के अनुकूल व्यापार क्या लोक एवं वेद में समान है अथवा भिन्न—भिन्न हैं ? इस संशय का समाधान प्रस्तुत

अवतरण में किया गया है। लौकिक 'गामानय' इत्यादि वचनों में राजपुरुष अथवा आचार्य भत्य या शिष्य को गवानयन में प्रवत्त कराता है। भत्य या शिष्य भी पद–पदार्थ का ज्ञान करके गवानयन में प्रवत्त होता है। स्पष्ट है कि प्रयोजक आचार्यादि अपने अभिप्राय को लोट्, लिङादि का अर्थ समझा जाता है। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि आज्ञादि रूप प्रवर्त्तनाएं चाहे ज्ञानरूप हो, चाहे इच्छारूप, परन्तु चेतन का ही धर्म है, अचेतन का नहीं। वेद में भी विधिवाक्यों से प्रवत्त होकर 'मैं यज्ञ करता हूँ' इत्यादि रूप व्यवहार होने से वैदिक लिङादिशब्दों में उक्त आज्ञादि से भिन्न प्रवर्त्तनारूप धर्म सिद्ध होता है। वही 'चोदना, प्रवर्त्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश, शब्दभावना' आदि शब्दों से कहा जाता है। वह शाब्दी भावना ज्ञान–इच्छादि–रूप चेतन धर्मों से भिन्न है अतः भट्टपाद ने भावार्थाधिकरण में कहा है–

अभिधा भावनामाहुरन्यामेव लिङादयः।'

अर्थात् लिङादि विधिरूप आख्यात का अर्थ अभिधा भावना है, यह लिङादिरूप आख्यात का ही अर्थ है। लिङादि आर्थी भावना है, लिङांश का अर्थ शाब्दी या अभिधा भावना है। वेद अपौरुषेय है अतः वहाँ प्रवर्त्तयिता कोई पुरुष नहीं है। वैदिक व्यवहार में वेद ही प्रवर्तक समझा जाता है। अतएव वैदिक विविध वाक्यों में आख्यातांश का अर्थ आर्थीभावना होता है तथा लिङाश का अर्थ शाब्दीभावना होता है।

शाब्दी भावना के स्वरूप विवेचन के अनन्तर उसके अंशत्रय–साध्य, साधन, इतिकर्त्तव्यता पर विशद विचार किया गया है। वस्तुतः प्रवत्यनुकूल व्यापारवती शाब्दीभावना का साध्य प्रयोज्य की प्रवत्ति है जो आर्थीभावना के द्वारा सम्पन्न होती है। अप्रवत्त को प्रवत्त कराना ही विधि का प्रयोजन है। आचार्य चैत्र को गवानयन में प्रवत्त कराना चाहता है। अतः चैत्र आदि की प्रवत्ति ही प्रवर्त्तना की सिद्धि है और यह प्रवत्ति आर्थीभावना है। एवच, किं भावयेत् ? का समाधान 'प्रवृत्तिं भावयेत्' होगा। इस सिद्धान्त को पुष्ट करने हेतु ग्रन्थकार ने लिखा है–'एकप्रत्ययगम्यत्वेन समानाभि धानश्रुतेः – भाव यह है कि 'यजेत', 'आनयेत्' इत्यादि धातुओं के अनन्तर जो 'त' प्रत्यय है उसके दो धर्म हैं–आख्यातत्व एवं लिङ्त्व–परन्तु प्रत्यय एक ही है और ये दोनों धर्म दो अर्थ के प्रतिपादक हैं। अर्थात् लिङ्त्व से शाब्दीभावना का बोध होता है एवं आख्यात से आर्थीभावना का। शाब्दीभावना के साध्य की आकांक्षा होने पर आर्थीभावना का अन्वय साध्य रूप में इसलिये होता है क्योंकि दोनों का ही विधान एक ही प्रत्यय से किया गया है।

इस प्रसंग में यह संशय होता है कि शाब्दीभावना के साध्य रूप में आर्थीभावना का अन्वय इसलिये किया जाता है कि दोनों ही एक प्रत्ययगम्य हैं एवं समान श्रुति से प्राप्त हैं, परन्तु 'त' प्रत्यय से केवल आर्थीभावना का ही बोध नहीं होता अपितु उससे संख्या, काल, पुरुष का भी बोध होता है अतः इन्हें भी शाब्दीभावना का साध्य क्यों न माना जाये। इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है–

'अयोग्यत्वात्र साध्यत्वेनान्वयः' अर्थात् यद्यपि तिङ्वाच्य संख्या एवं काल भी एक 'त' प्रत्यय गम्य है तथापि ये दोनों शाब्दीभावना के साध्य नहीं हो सकते हैं क्योंकि इन दोनें में 'कृतिसाध्यत्व' अर्थात् पुरुषसाध्यत्व का अभाव है अतः साध्यत्व रूप में अव्यय नहीं हो सकता।

शाब्दीभावना की करणाकांक्षा होने पर लिङादिज्ञान का करणरूप में अन्वय होता है। यहाँ 'लिङादि' में आदि पद से लोट्, लेट्, तव्यादि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। 'दण्डेन घटः' आदि वाक्यों में घट के उत्पादक रूप में दण्ड का करणत्व अभिप्रेत है उस प्रकार 'करण' यहाँ नहीं है इस शंका के निवारणार्थ कहा गया है कि लिङादिज्ञान शाब्दीभावना का उत्पादक नहीं है क्योंकि लिङादिज्ञान से पहले भी शब्द में शाब्दीभावना विद्यमान है। लिङ्त्वधर्म से अविच्छन्न प्रत्यय शाब्दीभावना का वाचक है। वाचक पद से पद–पदार्थ का सम्यग्ज्ञान करके ही पुरुष को 'अर्थ' का ज्ञान होता है। शब्द का वाच्य के साथ वाच्यवाचकभावरूपी सम्बन्ध नित्य हैं अतः पदपदार्थ के सम्बन्ध ज्ञान के पूर्व भी वाच्यवाचकसम्बन्ध की विद्यमानता के कारण लिङ्गादिज्ञाान को उत्पादकस्वरूप में करण नहीं माना जा सकता। भाव यह है कि 'गां नयति, 'गां निनाय' इत्यादि वाक्यों को सुनकर किसी भी व्यक्ति में प्रवत्यनुकूल व्यापाररूपी क्रिया नहीं होती अपितु 'नय आनय' आदि प्रयोगों से ही प्रवत्ति होती है। यह प्रवत्ति आर्थीभावना है जो कि शाब्दीभावना द्वारा साध्य है।

ऊपर लिखित विवेचन से यह शंका स्वाभाविक है कि जनसामान्य की प्रवत्ति लिङादिज्ञान से यागादि में क्यों नहीं होती? इस शंका का समाधान 'इतिकर्त्तव्यता.....' आदि के द्वारा किया गया है। 'इतिकर्त्तव्यता' पद में इतिशब्द का प्रकार अर्थ है (इति अनेन प्रकारेण, कर्त्तव्यं साध्यम्, उतपादनीयम् इति इतिकर्त्तव्यम्, तस्य भावः इतिकर्त्तव्यता) अर्थात् यागादि करने की प्रक्रिया का बोध इतिकर्त्तव्यताज्ञान से होता है। प्रकृत सन्दर्भ में सामान्य से विशेष को अलग करने वाले पद को ही 'प्रकार' शब्द से अभिव्यक्त किया गया है। अतः लिङ्गादिज्ञानरूपकर्त्तव्य सामान्य माना जायेगा एवं उसका भेदक जो कर्मप्राशस्त्यरूप विशेष है उसका ग्रहण

'इतिकर्त्तव्यता' रूप में होगा। भाव यह है कि जिस पुरुष को यागादिरूपी कर्म में प्राशस्त्य का ज्ञान होगा उसी को ही 'लिङ्ादिश्रवण' से कर्म में प्रवत्ति होगी परन्तु जिसे प्राशस्त्यज्ञान नहीं होगा उसकी प्रवत्ति नहीं होगी। यह अन्यव्यतिरेक सिद्धांत से स्पष्ट है। वैदिक कर्म के प्राशस्त्य का ओध अर्थवाद वाक्यों से होता है। यथा–'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' यह विधि वाक्य है। अर्थात् धन की इच्छा रखने वाले पुरुष को वायु देवता श्वेत गुण युत द्रव्य द्वारा याग करना चाहिए। इस वाक्य के सन्निकट 'वायुर्वे क्षेपिष्ठा देवता, वायुमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति, स एव एनं भूतिं गमयति' इत्यादि वाक्य आम्नात है। विधिवाक्य 'वायव्य' आदि में भूत आदि पदों से फल स्वरूप का बोध होता है। कर्मप्राशस्त्य का बोध तो 'वायुर्वे क्षेपिष्ठा–(वायुशीघ्रगामी देवता है। वह शीघ्र ही उसे ऐश्वर्य देती हैं, जो उसके भागधेय श्वेत पशु से उसका आराधन करते हैं) इस अर्थवाद से होता है। यद्यपि अर्थवादों का वाच्यार्थ प्रशंसा नहीं है तथापि लक्षणा से प्रशंसा अर्थ निकलता है।

(५) प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयव्यापार आर्थीभावना, सा चाख्यातत्वांशेनोच्यते, आख्यातसामान्यस्य व्यापारवाचित्वात्।

साप्यंशत्रयमपेक्षते-सांध्यं साधनमितिकर्तव्यतां च, किं भावयेत्, केन भावयेत्, कथं भावयेदिति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गादिफलं साध्यत्वेनान्वेति। साधनाकाङ्क्षायां यागादिः करणत्वेनान्वेति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गजातमितिकर्तव्यतात्वेनान्वेति।

अर्थ :- स्वर्ग आदि उद्देश्य की इच्छा से होने वाली याग आदि क्रिया से सम्बद्ध व्यापार आर्थी भावना है। यह प्रत्यय के आख्यात अंश से व्यक्त होती है क्योंकि सभी आख्यात व्यापार को ही प्रकट करते हैं। उस आर्थी भावना को भी तीन अंशो साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता अर्थात् किसकी भावना करे, किससे भावना करे और कैसे भावना करे–की अपेक्षा होती है। इनमें से साध्य की आकांक्षा होने पर स्वर्ग आदि फल साध्य के रूप में अन्वित होता है। साधन की आकांक्षा होने पर याग आदि करण के रूप में अन्वित होता है और इतिकर्त्तव्यता की आकांक्षा होने पर प्रयाज आदि अङ्गसमूह इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित होता है।

विशेष :- इस प्रकरण में आर्थी भावना का स्वरूप निरूपित हुआ है।

'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्य के श्रवण करने के अनन्तर श्रोता यजमान में स्वरूप फल प्राप्ति हेतु यागादि कर्मानुष्ठान की प्रवत्ति होती है। पुरुष की याग–विषयक मानसिक व्यापार को ही आर्थीभावना कहते हैं। इस व्यापार को कुछ लोग 'प्रयत्न' के नाम से अभिहित करते हैं। प्रयत्न पक्ष में 'रथो गच्छति' आदि प्रयोगों में 'गमनानुकूलव्यापार' चेतना का ही धर्म हो सकता है अतः वाहक अश्वादि में चेतन धर्म मान कर असंगति का निवारण है परन्तु द्वितीय पक्ष में 'रथो गच्छति' इत्यादि प्रयोग असाधु प्रतीत होते हैं तथापि इसका समाधान यह हो सकता है कि रथ के गमन करने से पूर्वदेश संयोग का नाश होकर, उत्तरदेश के साथ संयोग होने पर गन्तव्य ग्राम देश की प्राप्ति होती है अतः प्रयोग में दोष नहीं होगा। यह पक्षद्वय नवीन एवं प्राचीन मीमांसक के नाम से प्रचलित है। तात्पर्य यह है कि व्यापार रूप भावना प्रायः चेतन में ही रहती है, परन्तु चेतन में ही रहने का सर्वथा नियम नहीं है। अतएव 'रथो गच्छति' ('रथ जाता है') इत्यादि वाक्यों में चकभ्रमणरूप भावना अचेतन को दी है इसलिए 'रथो गच्छति' के 'ति' आख्यात का भी भावनारूप मुख्यार्थ है।

इससे पूर्व यह कहा गया है कि विधिवाक्यों में लिङ्, लोट्, तव्य प्रत्यय अवश्य होते हैं। उनका भावना ही अर्थ होता है। वह भावना भी दो प्रकार की होती है–शाब्दीभावना एवं आर्थीभावना। यथा 'यजेत' में 'यज्' प्रकृति है और लिङ् प्रत्यय है। लिङ् में लिङ्त्व और आख्यातत्व ये दो धर्म हैं। आख्यातत्व दस लकारों में रहता है किन्तु लिङ्त्व धर्म लिङ् में ही रहता है। आख्यात का अर्थ है–आर्थी भावना एवं लिङ् का अर्थ है शाब्दी भावना। 'अर्थयते इति अर्थः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार फलकामनायुक्त पुरुष ही 'अर्थ' शब्द का वाच्य है। उसी की भावना आर्थीभावना कही जाती है। अतः भावयिता पुरुष में रहने वाला वह यत्नविशेष आर्थीभावना कही जाती है, जिससे 'फलभावना' उत्पन्न होती है।

उस आर्थीभावना के तीन अंश होते हैं–'कि भावयेत्', 'केन भावयेत्', 'कथं भावयेत्, अर्थात् साध्य, साधन एवं इतिकर्त्तव्यता (प्रक्रिया)। स्वर्ग आदि से साध्याकांक्षा पूरी होती है, याग से साधनविषयक एवं प्रयाज आदि रूप अंगों से 'इतिकर्त्तव्यता' की आकांक्षा पूरी होती है।

भाव यह है कि–आर्थीभावना से ही देवदत्तादि की प्रवत्ति यागादि में होती है इसके अनन्तर स्वर्गादिरूप फल की प्राप्ति होती है। वस्तुतः स्वर्ग की उत्पत्ति यागजन्य नहीं है क्योंकि स्वर्ग की विद्यमानता पहले से ही है अपितु याग सम्पादन द्वारा यज्ञकर्त्ता द्वारा अपने इष्ट स्वर्ग को प्राप्त करता है।

साध्य स्वर्ग का साधन यागानुष्ठान है यह पहले कहा गया है। 'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्यों से विदित होता है

कि यागादि से स्वर्गप्राप्ति होती है अतः साध्य स्वर्ग का याग साधन माना गया है। मीमांसासिद्धान्त के अनुसार यागादि क्रिया के सम्पन्न हो जाने पर यजमान में 'अपूर्व' नामक गुण विशेष की उत्पत्ति होती है और मत्यु के बाद उसी अपूर्व के बल से उसे स्वर्ग प्राप्ति होती है।

साध्य एवं साधन सम्बन्धी चर्चा के अनन्तर आकांक्षा होती है कि साध्य की सिद्धि किस प्रकार करें। इसे ही 'इतिकर्त्तव्यताकांक्षा' कहा गया है। किस प्रकार करें ? कथं भावयेत ? – का समाधन है–'प्रयाजादि अंगसमुदाय द्वारा स्वर्ग प्राप्ति करे। यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वहिर्यजति', स्वाहाकार' यजति; इत्यादि वाक्यों द्वारा विहित पच यागों को प्रयाज संज्ञा दी गई है। ये पाँचों याग दर्शपूर्णमास प्रकरण में पढ़े गये हैं परन्तु इनके अनुष्ठान से क्या फलप्राप्ति होगी ? यह नहीं बताया गया है। 'दर्शपूर्णामासाभ्यां यजेत स्वर्गकामो' इस विधिवाक्य से 'दर्श' और 'पूर्णमास' याग का विधान स्वर्गप्राप्ति हेतु है। यह अङ्गीयाग अर्थात् प्रधान याग माना जाता है एवं इसमें स्वर्गरूपी फल का भी स्पष्टतः उल्लेख है। 'प्रजायाः क र्त्तव्याः' इस वाक्य द्वारा प्रयाजादि का भी अनुष्ठान विहित है। और दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित होने के कारण ये प्रधानयाग के अङ्ग हैं। अङ्गसहित ही अङ्गी फलवान् माना जाता है अतः आर्थी भावना में इस बात की आकांक्षा होती है कि याग से फल किस प्रकार प्राप्त किया जाए ? इसी प्रकार प्रयाजानुयाजादि भी फल साकांक्ष होने पर दर्शपूर्णमास के द्वारा ही स्वर्गफल प्राप्ति में सहायक माने जाते हैं। अतः 'इतिकर्त्तव्यताकांक्षा' होने पर प्रयाजादि अङ्गसमूह द्वारा अनुष्ठान करने की बात कही गई है।

(६) अथ को वेद इति चेत्। उच्यते-अपौरुषेयं वाक्यं वेदः। स च विधि-मन्त्र-नामधेय-निषेधार्थवादभेदात् पचविधः।

अर्थ :- यदि प्रश्न हो कि वेद क्या है ? तो उत्तर है कि अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुष के द्वारा न रचे गये वाक्य वेद हैं। वह वेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद के भेद से पाँच प्रकार का है।

विशेष :- धर्म के स्वरूप कि प्रतिपादन करते हुए कहा गया है–"वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः" अर्थात् वेद द्वारा प्रतिपादित प्रयोजनवान् अर्थ धर्म है। अब प्रश्न है कि वेद क्या है ? यहाँ वेद के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा गया है कि अपौरुषेय वाक्य वेद है और वह वेद, विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध और अर्थवाद भेद से पाँच प्रकार का है।

वेद के सभी विभाग विधि मूलक हैं। विधि के आश्रय से ही मन्त्र, नामधेय, निषेध, अर्थवाद की सार्थकता है। आज्ञात अर्थ के ज्ञापक होने से ही उसे विधि कहा जाता है परन्तु अज्ञात ज्ञाापन मन्त्र मात्र से ही विधि पुरुष का यागादि कर्म में प्रवत्त करने में समर्थ नहीं होती, अपितु उस अज्ञात अर्थ को किसी प्रयोजन की भी सिद्धि करनी चाहिये। इस प्रकार वह विधिवाक्य स्वयं भी प्रयोजनवान् हो जाता है।

'अग्निहोत्रं जुहोति' इस उत्पत्तिविधि के अन्यत्र पठित होने से 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' को अधिकार विधि माना जाता है। होम कर्म का नामधेय 'अग्निहोत्र' है। इस विधि द्वारा स्वर्ग को उद्देश्य करके 'अग्निहोत्रसंशक' होम का विधान किया गया है।

विधि के लक्षण की संगति प्रकृत उदाहरण में स्पष्ट करते हुए कहा गया है–'मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते'–भाव यह है कि अग्निहोत्र होम करने से स्वर्ग लाभ होता है यह पहले अज्ञात अर्थ का ज्ञापक विधि वाक्य हो गया। प्रसंग क्रम से यह भी स्पष्ट किया गया है कि विधि में कर्म का ही करण रूप से अन्वय करके 'अग्निहोत्रहोमेन स्वर्ग भावयेदिति' अर्थात् अग्निहोत्र होम से स्वर्ग का उत्पादन करे' यह अर्थ समझना चाहिये। 'जुहुयात्' इस पद में 'धात्वर्थ' होम है एवं आख्यातार्थ 'भावना' है। अतः करण में ततीया की विवक्षा से 'होमेन भावयेत्' यह वाक्यरूप होगा। एवं 'किं भावयेत्' ? का उत्तर 'स्वर्ग' होगा। अतएव इसे 'अपूर्वविधि' कहते हैं।

अपूर्वविधि के निरूपण के अनन्तर गुणविधि के स्वरूप को बोधगम्य बनाने के लिये 'दध्ना जुहोति' का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। कभी–कभी विधिवाक्यों में केवल उस द्रव्य का विधान रहता है जिससे यज्ञानुष्ठान करना है और 'कर्म' (धात्वर्थः–यज्ञकर्म) का विधान किसी अन्य वाक्य के द्वारा होता है। 'दध्ना जुहोति' इस विधि वाक्य में केवल 'दधि' मात्र का उल्लेख है जिससे यज्ञ करना है परन्तु मुख्य 'होम' 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य द्वारा विहित है। इस प्रसंग में यह भी ध्यातव्य है कि जो 'विधेय' होता है उसका (भावना में) करण रूप में एवं 'उद्देश्य' का कर्म रूप में अन्वय होता है। अतः 'दध्ना जुहोति' का वाक्यार्थ बोध 'दध्ना होमं भावयेत्' हुआ। यहाँ होम क्रिया का साधन 'दधि' है अतएव 'दधि' रूप गौण वस्तु विधायक वाक्य होने से 'दध्ना जुहोति' को गुणविधि माना जाता है।

'सोमेने यजेत' उदाहरण देकर विशिष्ट विधि की व्याख्या की गयी है।

'सोमेन यजेत' अन्यत्र विहित किसी भी यज्ञ कर्म में निर्दिष्ट नहीं है। अतः इसी वाक्य से (सोम) गुण एवं होम कर्म

दोनों का ही विधान मानना होगा, परन्तु यह सम्भव कैसे है ? सोमेन यजेत का वाक्यार्थबोध 'सोमवता=सोमविशिष्टेन यागेन इष्टं भावयेत् ?' मानने पर समस्या का समाधान सम्भव है। क्योंकि 'सोमेन यागेन इष्टं भावयेत्' से निर्दुष्ट अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। सोमेन का अर्थ 'सोमवता' स्वीकार करने के लिए 'लक्षणा' का आश्रय लेना होगा। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि जब शब्द की अभिधा शक्ति से उपयुक्त अर्थ का ज्ञान नहीं होता तब लक्षण को स्वीकार करना पड़ता है। 'सोमेन यजेत' में सोमवता अर्थ के लिए 'मत्वर्थलक्षणा' माननी पड़ती है। शास्त्रीय शब्दावली में इसे 'उपादानलक्षणा या अजहल्लक्षणा' कहते हैं। अतः याग एवं सोम दोनों का विधान सम्भव है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'मत्वर्थलक्षणा' के बिना भी 'सोमेन यजेत' का अर्थ 'सोमेन योगेन इष्टं भावयेत्' किया जा सकता है, क्योंकि याग के साथ सोम का अन्वय हो जायेगा परन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि इस स्थिति में 'सोमेन इष्टं भावयेत्' एवं 'यागेन इष्टं भावयेत्' ये दो परस्पर निरपेक्ष वाक्य मानने पड़ेंगे और वाक्यभेद नामक दोष भी होगा। यद्यपि लक्षणा स्वीकार करने के सिद्धान्त पक्ष में भी दोष की उद्भावना की जा सकती है तथापि लक्षणा में पदद्योष है और वाक्यभेद में वाक्यदोष, अतः कल्पनालाघव के कारण लक्षणा का आश्रय करना ही श्रेयस्कर है।

इससे पूर्व यह स्पष्ट हो चुका है कि 'सोमेन यजेत' इस विशिष्ट विधि द्वारा याग एवं द्रव्य दोनों का ही विधान होता है। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इस वाक्य से दो भिन्न वाक्यों का आशय प्रकट हो रहा है– (i) सोमेन यागं भावयेत् एवं (ii) योगेन इष्टं भावयेत्–इस प्रकार वाक्यभेद की समस्या आ जायेगी। इस समस्या का समाधान यह है कि–वाक्यभेद नामक दोष वहाँ मानना चाहिये जहाँ एक ही वाक्य द्वारा दो तरह का विधान दिया जा रहा हो। 'सोमेन यजेत' उदाहरण में दो भिन्न वस्तुओं का विधान नहीं है क्योंकि स्पष्टतः विधान तो केवल सोम विशेषण युत याग का ही है। अतः दो विधायक वाक्य नहीं स्वीकार करने पडेंगे। 'श्वेतवस्त्रधारी पुरुष' को ले आओ इस लौकिक उदाहरण में कोई विवेकशील प्राणी श्वेत वस्त्र एवं पुरुष को अलग–अलग नहीं लाता। उसी प्रकार सोमविशिष्ट याग के विधान से सोम का भी विधान स्वतः सिद्ध है। अतः वाक्य–भेद दोष नहीं है।

'सोमेन यजेत' को गुणविधि क्यों स्वीकार नहीं किया जा सकता, इस आशंका का समाधान ग्रन्थकार ने किया है।

पूर्वपक्ष का आशय यह है कि 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य से सोमयाग रूप कर्म प्राप्त है इसलिये 'सोमेन यजेत' वाक्य द्वारा सोमरूप गुण को ही विहित मानना चाहिये। इस प्रकार मत्वर्थ में लक्षण स्वीकार करने से प्राप्त कल्पना गौरव का भी परिहार हो जायेगा एवं 'सोमेन यागं भावयेत् अर्थात् सोम द्वारा याग की भावना करे, ऐसा वाक्य बोध होगा। परन्तु सिद्धान्त पक्ष इसे स्वीकार नहीं करता, क्योंकि उत्पत्तिविधि के कर्मस्वरूपमात्र का ही ज्ञान होता है और अधिकारविधि इससे विहित कर्म के फल विशेष के साथ सम्बन्धमात्र का बोध कराती है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामः' से यागानुष्ठान में प्रवत्त पुरुष को फलोपभोगविषयक योग्यता का ज्ञान होता है। अतः यह अधिकारविधि है। उत्पत्तिविधि नहीं है। अतएव सोमयागस्वरूप ज्ञान हेतु विशिष्ट विधान अपरिहार्य है।

यद्यपि 'उद्भिदा' यजेत पशुकामः' वाक्य द्वारा उद्भिद् नामक याग एवं 'पशुकामः' पद से फल सम्बन्ध का दोनों का बोध होने से इसे अधिकारविधि एवं उत्पत्तिविधि दोनों ही माना जाता है। इसी तरहय 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' को भी अधिकारविधि एवं उत्पत्तिविधि दोनों ही मानना ठीक होगा। इस प्रकार सोमेन यजेत को गुणविधि माना जा सकेगा, जिससे लक्षणा की आवश्यकता नहीं होगी। परन्तु सिद्धान्ती इस बात का अनुमोदन नहीं करता क्योंकि 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' के लिए कोई दूसरा उत्पत्तिवाक्य उपलब्ध नहीं होता। यदि ज्योतिष्टोमेन से याग एवं उसका फल दोनों ही ग्रहण किया जायेगा तब वाक्यभेद नामक दोष होगा।

अतः एक ही विधिवाक्य से दो प्रकार के पथक् पथक् विधान होंगे–प्रथमतः यागस्वरूप निरूपण होगा, दूसरा अधिकार का। अतः यह कथन ठीक नहीं है। यदि यह कहा जाये कि 'सोमेन यजेत' को विशिष्टविधि मानने पर वाक्यभेद (i) गुण–विधान (सोम) (ii) उत्पत्तिविधान याग) होगा, यह भी उचित नहीं है क्योंकि सोम को विशेषण, एवं याग को विशेष्य माना गया है अतः विशेषण–विशेष्यभाव के कारण वाक्यभेद की स्थिति नहीं होगी। 'सोमेन यजेत' में यद्यपि विशिष्ट विधान मानने पर 'मत्वर्थलक्षणा' दोष होता है तथापि वाक्यभेद दोष से लक्षणा दोष हीन है। क्योंकि वाक्यभेद वाक्यदोष है और ल्रक्षणादोष पददोष है। पदवाक्यदोष एवं पददोष में पददोष को ही लाघव के कारण स्वीकार करना उचित है। इसलिये 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' की उत्पत्ति एवं अधिकारविधि दोनों मानने से उत्पन्न होने वाले वाक्यभेद दोष की अपेक्षा या सोम पद में मत्वर्थलक्षणा स्वीकार कर 'सोमवता–सोम–विशिष्ट याग का विधान श्रेष्ठ है।

(७) तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः। स च तादशप्रयोजनवदर्थविधानेनार्थवान् यादशं चार्थं प्रमाणान्तरेणाप्राप्तं

विधत्ते-यथा 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इति विधिर्मानान्तरेणाप्राप्तं स्वर्गप्रयोजनवद्धोमं विधत्ते, अग्निहोत्रहोमेन स्वर्गं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

यत्र कर्म मानान्तरेण प्राप्तं तत्र तदुद्देशेन गुणमात्रं विधत्ते-यथा 'दध्ना जुहोतीत्यत्र होमस्याग्निहोत्रं जुहुयादित्यनेन प्राप्तत्वाद्धोमोद्देशेन दधिमात्रविधानं, 'दध्ना होमं भावयेदि'ति। यत्र तूभयमप्राप्तं तत्र विशिष्टं विधत्ते-यथा 'सोमेन यजेतेत्यत्र सोमयागयोरप्राप्तत्वात् सोमविशिष्टयागविधानम्। सोमपदे मत्वर्थलक्षणया सोमवता यागेनेष्टं भावयेदिति वाक्यार्थबोधः।

न चोभयविधाने वाक्यभेदः, प्रत्येकमुभयस्याविधानात्, किन्तु विशिष्टस्यैकस्यैव विधानात्।

न च 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेते'ति विधि प्राप्तयागोद्देशेन सोमरूपगुणविधानमेवास्तु, सोमेन यागं भावयेदिति किं मत्वर्थलक्षणयेति वाच्यम्। तस्याधिकारविधित्वेनोत्पत्तिविधित्वासंभवात्।

ननु 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यस्येव ज्योतिष्टोमेनेत्यस्याप्युत्पत्त्यधिकारविधित्वमस्त्विति चेत्, न। दष्टान्ते उत्पत्तिवाक्यान्तराभावेनान्यथानुपपत्त्या तथात्वाश्रयणात्। किच ज्योतिष्टोमेनेत्यस्योभयविधित्वेनेनैव यागस्तस्य फलसंबन्धोपि, बोधनीय इति सुदढ़ो वाक्यभेदः। तद्वरं सोमपदे मत्वर्थलक्षणया विशिष्टविधानम्।

विधिश्चतुर्विधः-उत्पत्तिविधिः, विनियोगविधिः, अधिकारिविधिः, प्रयोगविधिश्चेति।

अर्थ :- वेद के इन पाँच विभागों में अज्ञात इष्ट का ज्ञान कराने वाला वेद का अंश विधि है। वह विधि उस प्रकार के प्रयोजनवान् अर्थ का विधान करने से सार्थक है जिस प्रकार का विषय उसके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। जैसे 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' यह विधि दूसरे प्रमाण से अबोधित स्वर्गरूपी प्रयोजन से युक्त होम का विधान करता है। 'अग्निहोत्र होम से स्वर्ग की भावना करे' विधि द्वारा यह अर्थ समझना चाहिये।

जहाँ कर्म दूसरे प्रमाण से सिद्ध होता है वहाँ उसी प्रमाणान्तर से प्रतिपादित कर्म को लक्ष्य करके केवल गुण–अप्रधान अथवा अङ्ग–का विधान विधिवाक्य करता है। जैसे–'दध्ना जुहोति।'–दधि से होम करता है–इस विधिवाक्य से निर्दिष्ट होम की 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस वाक्य से प्राप्ति होने के कारण होम को लक्ष्य करके अङ्भूत दधिमात्र का विधान होता है, और अर्थ होता है "दधि से होम की भावना करे"। जहाँ अङ्ग अङ्गी दोनों प्राप्त नहीं होते वहाँ विधिवाक्य से विशिष्ट का अर्थात् गुण से युक्त कर्म का, विधान होता है। यथा 'सोमेन यजेत' इस वाक्य से सोम एवं याग दोनों के प्रमाणान्तर से प्राप्त न होने के कारण सोम से युक्त याग का विधान होता है। सोमपद में मत्वर्थ लक्षणा से 'सोमयुक्त याग के द्वारा इष्ट की प्राप्ति करे' यह वाक्य का अर्थ ज्ञात होता है। दोनों का विधान करने पर वाक्यभेद नामक दोष नहीं होगा, क्योंकि यहाँ दोनों का अलग–अलग विधान नहीं किया जा रहा है, अपितु विशिष्ट एक का ही विधान है।

'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इस विधिवाक्य से प्राप्त याग को लक्ष्य करके सोमरूप गुण का ही विधान मान्य हो, और 'सोमेन यजेत का अर्थ 'सोम से याग को सम्पन्न करे' लिया जाये, तो फिर मत्वर्थ लक्षणा से क्या लाभ?' यह तर्क मान्य नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्टोमेन सर्वकामों यजेत आदि के अधिकार आदि विधि होने से उसमें उत्पत्ति–विधि की संभावना नहीं की जा सकती।

(यदि शङ्का की जाये कि जिस प्रकार 'उद्भिदा यजेत पशुकामः'–"पशु की कामना वाला उद्भिद् याग करे"–में उत्पत्ति एवं अधिकार विधियाँ एक साथ मानी जाती है) उस 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' की भाँति 'ज्योतिष्टोमेन०' आदि में भी उत्पत्ति एवं अधिकार दोनों विधियाँ मान ली जायें, तो यह भी मान्य नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत उदाहरण के प्रसङ्ग में दूसरा उत्पत्ति वाक्य न होने से उसके अभाव में अर्थ की संगति न हो पाने के कारण उद्भिदा० आदि में वैसे ही भाव अर्थात् उत्पत्ति और अधिकार दोनों विधियों का अवलम्ब लेना पड़ता है। इसके अतिरिक्त 'ज्योतिष्टोमेन' आदि वाक्य में उत्पत्ति एवं अधिकार दोनों विधि स्वीकार कर लेने पर इसी से याग (रूप–साधन) और उसके फल से सम्बन्ध भी मानना पड़ेगा। ऐसे में घोर वाक्यभेद होगा। अतः सोमपद में मत्वर्थ–लक्षणा से विशिष्ट का विधान अधिक उचित है।

विधि चार प्रकार की है–(१) उत्पत्तिविधि, (२) विनियोगविधि, (३) अधिकारविधि, (४) प्रयोगविधि।

विशेष :- यहाँ उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार तथा प्रयोग के रूप में विधि का चतुर्विध विभाजन किया गया है। विधि का यह चतुर्विध विभाजन यज्ञ के सम्पादन में सहायता के आधार पर है।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि इसके पूर्व भी ग्रन्थकार ने तीन प्रकार की विधियों का प्रसंगतः, निरूपण किया है।

(१) **विधि**–प्रधानविधि अथवा उत्पत्तिविधि, उदाहरण–अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः।

(२) **गुणविधि**–इसे विनियोगविधि भी कहा जाता है। उदाहरण–दध्ना जुहोति।

(३) **गुणविशिष्ट**–उदाहरण–'सोमेन यजेत'।

इसके अलावा, मन्त्र स्वरूप विवेचन के प्रसंग में निम्नलिखित प्रभेदों का विवरण मिलता है।

(१) **अपूर्वविधि**–इसे उत्पत्तिविधि कहते हैं। उदाहरण–'यजेत स्वर्गकामः'।

(२) **नियमविधि**–इसको विनियोग विधि के रूप में समझा जा सकता है। उदाहरण–व्रीहीनवहन्ति।

(३) **परिसंख्याविधि**–पच पचनखाः मक्ष्याः।

(८) तत्र कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुपत्तिविधिः, यथा 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति। अत्र च विधौ कर्मणः करणत्वेनान्वयः, अग्निहोत्रहोमेनेष्टं भावयेदिति।

ननु यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं देवता च। तथा च रूपाश्रवणेग्निहोत्रं जुहोतीति कथमुत्पत्तिविधिः ? अग्निहोत्रशब्दस्य तु तत्प्रख्यन्यायेन नामधेयत्वादिति चेत्। न। रूपाश्रवणे प्यस्योत्पत्तिविधित्वात्। अन्यथा रूपश्रवणात् 'दध्ना जुहोती'त्ययमेवोत्पत्तिविधिः स्यात्। तथा च 'अग्निहोत्रं जुहोती'ति वाक्यमनर्थकं स्यात्।

अर्थ :- उन चारों प्रकार की विधियों में याग आदि कर्म के स्वरूप मात्र की बोधक विधि को उत्पत्तिविधि कहते हैं, जैसे 'अग्निहोत्रं जुहोति' में। इस विधि में अग्निहोत्र कर्म का करण के रूप में अन्वय होता है, अतः उक्त वाक्य का अर्थ होगा अग्निहोत्र नामक होम से इष्ट की भावना करनी चाहिये।

यदि शङ्का हो कि याग के तो दो अङ्ग होते हैं १. द्रव्य तथा २. देवता। इस वाक्य में उस प्रकार के अङ्गों का श्रवण न होने से 'अग्निहोत्रं जुहोति' में उत्पत्तिविधि कैसे होगी ? अतः अग्निहोत्र शब्द तत्प्रख्यन्याय से नामधेय नामक वेदाङ्ग होगा विधि नहीं। तो इसका उत्तर है नहीं अर्थात् तत्प्रख्यन्याय से अग्निहोत्र नामधेय नहीं होगा, अपितु विधि ही कहा जायेगा। क्योंकि उक्त रूपों का श्रवण न होने पर भी इसमें उत्पत्तिविधि है। नहीं तो (अर्थात् रूप का श्रवण होने पर ही विधि मानने पर तो) रूप का श्रवण होने से 'दध्ना जुहोति' यह वाक्य भी उत्पत्तिविधि होने लगेगा। वैसा होने पर तो 'अग्निहोत्रं जुहोति' यह वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

विशेष :- "कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरूत्पत्तिविधिः" इस लक्षण में 'मात्र' पद के प्रयोग से यह स्पष्ट होता है कि उत्पत्ति विधि का कार्य कर्म के स्वरूपमात्र का बोध कराना है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य से केवल यही पता चलता है कि अग्निहोत्र नामक याग का विधान करना है। यद्यपि 'दध्ना जुहोति' से भी कर्म के स्वरूप का ज्ञान होता है तथापि 'दध्ना' पद से कर्म के साथ गुण के भी स्वरूप का बोध होने से इस वाक्य को कर्मस्वरूपमात्र का बोधक नहीं कहा जा सकता।

उत्पत्ति विधि में कर्म का करण के रूप में अर्थ लिया जाता है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' में 'अग्निहोत्र' पद द्वितीया विभक्ति में और जुहोति का कर्म है। किन्तु मीमांसकों को 'अग्निहोत्र' कर्म के रूप में नहीं अपितु करण अथवा साधन के रूप में अभीष्ट है। इसी को वे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :– "अग्निहोत्रहोमेन इष्टं भावयेत्"। यहाँ अग्निहोत्र ततीया विभक्ति में होने से करण रूप में मान्य है।

द्रव्य और देवता, याग के इन दो रूपों में जो दिया जाता है, वह द्रव्य तथा जिसके लिए दिया जाता है वह देवता होता है। याग में इन दोनों का ज्ञान आवश्यक होता है।

'अग्निहोत्रं जुहोति' में द्रव्य एवं देवता दोनों का ही उल्लेख नहीं है। अतः इसे उत्पत्ति, विधि मानना उचित नहीं है। सिद्धान्ती का समाधान यह है कि '–अग्निहोत्रं जुहोति' में यागरूप के श्रवण न होने पर भी इसको उत्पत्तिविधि रूप सामान्य की कल्पना करके माना जा सकता है। परन्तु वह रूप कौन सा है इस प्रकार की आकांक्षा होने पर 'दध्ना जुहोति' इस गुणविधि से दधिरूप द्रव्य एवं 'अग्निर्ज्योति' इत्यादि मन्त्र से अग्नि रूप देवता का ज्ञान होता है अतः उत्पत्तिविधि मानना अनुचित है।

किच, यह भी आवश्यक नहीं है कि जिस विधि में रूप का श्रवण हो उसे ही उ त्पत्तिविधि मानना चाहिए, अन्यथा 'दध्ना जुहोति' में दधिरूप द्रव्यात्मक गुण का उल्लेख होने से इसे भी उत्पत्तिविधि मानना होगा और इसी स्थिति में 'अग्निहोत्रं जुहोति' वाक्य व्यर्थ हो जायेगा।

ञ(९) **अङ्गप्रधानसंबन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः। यथा 'दध्ना जुहोती'ति। स हि ततीयया प्रतिपन्नाङ्भावस्य दध्नो होमसंबंधं विधत्ते दध्ना होमं भावयेदिति।**

गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः, क्वचिदाश्रयत्वेनापि यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुया'दिति। अत्र दधिकरणत्वेनेन्दियं भावयेत्। तच्च किन्निष्ठमित्याकाङ्क्षायां संनिधिप्राप्तहोम आश्रयत्वेनान्वेति।

अर्थ :- द्रव्य, देवता आदि अङ्ग तथा प्रधान होम आदि के सम्बन्ध की ज्ञापक विधि को विनियोगविधि कहते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति'–दधि से होम करे–यह वाक्य ततीया विभक्ति से सूचित किये जा रहे अङ्गभाव वाले 'दधि' का होम से सम्बन्ध का विधान कर रहा है। अतः वाक्य का अर्थ होगा दधि से होम की भावना करे।

गुणविधि में धातु का अर्थ साध्य के रूप में अन्वित होता है। कहीं, कहीं धातु के अर्थ का आश्रय के भी रूप में ग्रहण होता है। जैसे–'दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्' आदि वाक्य में, जहाँ अर्थ होगा दधिरूप करण से इन्द्रिय की भावना करे। वह ततीया से उपस्थित दधिकरणता किसमें स्थित है, यह आकांक्षा होने पर समीप में विद्यमान होम रूप धात्वर्थ आश्रय के रूप में अन्वित होता है।

विशेष :– उत्पत्तिविधि का स्वरूप निरूपण समाप्त करके विनियोगविधि के सम्बन्ध में चर्चा की जा रही है। अंगों का प्रधान (अङ्गी) के साथ सम्बन्धबोधकविधि को विनियोगविधि कहते हैं। द्रव्य देवता क्रियादि रूप अंगों का तत् तत् वाक्यों द्वारा विधान होता है। जहाँ कर्मों में एक की प्रधानता है उसका विधायक वाक्य भी एक ही होता है और जहाँ विविध कर्मों का प्राधान्य है वहाँ उनके विधायक वाक्य भी कई होते हैं। अतः अङ्ग एवं अङ्गी या शेषशेषिभाव का सम्बन्ध प्रतिपादन ही विनियोगविधि संज्ञा से अभिहित होता है। यथा, 'दध्ना जुहोति' में 'दध्ना' ततीया विभक्ति से 'अंगत्व' का प्रतिपादन हो रहा है। इस अङ्ग का (अङ्गी) होम के साथ सम्बन्ध ही विनियोग विधि के द्वारा जाना जाता है।

'अङ्ग' का लक्षण करते हुए सूत्रकार जैमिनि ने कहा है–'शेषः परार्थत्वात्' इति। 'पर एव अर्थः प्रयोजनं यस्य स परार्थः' अर्थात् दूसरे की स्वरूपसिद्धि ही जिसका प्रयोजन हो उसे ही 'शेष' कहेंगे। 'दध्ना जुहोति' वाक्य में 'जुहोति' द्वारा प्रतिपादित होम है, उद्दिष्ट देश में द्रव्य की प्रक्षेपरूपा क्रिया है, और उसका साधक दधि रूप द्रव्य है। इस प्रकार –दधि' परार्थ होने से होम का अङ्ग हुआ एवं होम अङ्गी हुआ। इसी प्रकार 'व्रीहिभिर्यजेत' अर्थात् यागोद्देश से यवों का विधान होने से 'यव' या व्रीहि का यागाङ्गत्व सिद्ध है 'यजेत स्वर्गकामः' में भी स्वर्गोद्देश से याग का विधान होने से याग का स्वर्गांगत्व सिद्ध है। अतः सूत्रकार द्वारा बताया गया 'अङ्गत्व लक्षण' पारार्थ्य है।

विनियोगविधि का निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने धात्वर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि 'गुणविधौ च धात्वर्थस्य साध्यत्वेनान्वयः। कश्चिदाश्रयत्वेनाति। अर्थात् गुणविधि में क्रिया का साध्यरूप में और कहीं–कहीं धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में होता है। वस्तुतः जिस विनियोगविधि वाक्य में 'फल' उद्दिष्ट न हो और अधिकारविधि के द्वारा लक्षणाश्रय करके भी फल श्रुत न हो वहाँ धात्वर्थ का अन्वय साध्य रूप में होगा। यथा–दध्ना जुहोति। परन्तु धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में तब होगा जब साक्षात् या अधिकारी के विशेषण रूप में फल का विधान किया गया हो। यथा–'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' में इन्द्रिय रूप फल का श्रवण होता है अतः यहाँ धात्वर्थ का अन्वय आश्रयरूप में हुआ है। इस विधि वाक्य का अर्थ है–दधिकरणत्व से इन्द्रिय रूपी फल की कामना करे। यहाँ आशय यह है कि–कर्त्ता के व्यापार विना कारण विद्यमान नहीं होता है और होम का विधान वाक्यान्तर से हुआ है अतः सिद्धान्तरूप में होम और दधि गुण दोनों का विधान नहीं हो सकता। होम के साथ दधि का अन्वय करने पर 'इन्द्रिय रूप' फल व्यर्थ होगा। न्यायतः, फल एवं गुण दोनों के सम्बन्ध का विधान करना सम्भव नहीं।

ऊ(१०) एतस्य विधेः सहकारिभूतानि षट्प्रमाणनि-श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-पंकरण-स्थान-समाख्यारूपाणि। एतत्सहकृतेनानेन विधिनाङ्गत्वं परोद्देशप्रवत्तकृतिसाध्यत्वरूपं पारार्थ्यापरपर्यायं ज्ञाप्यते।

अर्थ :- इन विनियोग विधि के सहायक छः प्रमाण १. श्रुति २. लिङ्ग ३. वाक्य ४. प्रकरण स्थान ६. समाख्या रूप में है। इन छः प्रमाणों की सहायता से इस विनियोगविधि के अङ्गत्व का ज्ञान होता है जिस अङ्त्व का रूप 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट स्वर्गादि फल अथवा पर अर्थात् मुख्य दर्शपूर्णमास आदि यागरूपी साधन, अथवा अपने से भिन्न उक्त किसी के भी उद्धेश्य से कार्य में प्रवत्त हुए पुरुष की कृति–व्यापार से सिद्ध होने वाला। यह अङ्त्व पारार्थ्य अर्थात् 'पर' के लिए होने का दूसरा नाम है।

विशेष :- अङ्त्व का ज्ञापन करना विनियोग–विधि का वास्तविक कार्य है। कोई वाक्य अङ्ग कैसे है, यह जानने के लिए विनियोग विधि को सहायता की अपेक्षा होती है। द्रव्य, गुण आदि होम के सहायकों का उल्लेख होने से उनकी अङ्गता तो स्वतः सिद्ध है किन्तु वे किस याग से सम्बद्ध हैं और कर्म, करण, अधिकरण आदि किस रूप में सम्बद्ध है इत्यादि के प्रामाणिक ज्ञान के लिए विनियोग के सहकारी रूप में श्रुति, लिङ्, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या ये छह प्रमाण होते हैं।

(११) तत्र निरपेक्षो रवः श्रुतिः। सा च त्रिविधा-विधात्री, अभिधात्री, विनियोक्त्री च। तत्राद्या लिङ्गाद्यात्मिका। द्वितीया ब्रीह्यादिश्रुतिः। यस्य च शब्दस्य श्रवणादेव संबन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री।

अर्थ :- उन छः प्रकार के प्रमाणों में शेषत्व अथवा अङ्गत्व का बोध कराने के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता से रहित शब्द श्रुति है। वह तीन प्रकार की होती हैं—१. विधात्री २. अभिधात्री और ३. विनियोक्त्री। इनमें से पहली लिङ् आदि रूप वाली है। दूसरी व्रीहि आदि श्रुति है। और जिस शब्द के सुनने से ही सम्बन्ध प्रतीत होता है वह विनियोक्त्रीश्रुति है।

विशेष :- विनियोगविधि के सहकारिभूत षट् प्रमाणों में 'श्रुति' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए ग्रन्थकार ने प्रमाणान्तर निरपेक्ष रव को श्रुति माना है।

श्रुति—लक्षण में 'रव' पद का अर्थ शब्द है। प्रमाणान्तर की अपेक्षा किये बिना जो शब्द पदार्थ के विनियोग में समर्थ होता है उस शब्द को 'श्रुति' पद से कहा गया है। तात्पर्य यह है कि लिङ्गादि पचप्रमाण अपने—अपने पूर्ववर्त्ती प्रमाण की सहायता से ही विनियोग करते हैं अतः उनकें अतिव्याप्ति के निवारणार्थ श्रुति लक्षण में 'निरपेक्ष' पद का समावेश किया गया है। श्रुति में तीन प्रकार के शब्दों की अपेक्षा रहती है—विधिबोधक शब्द, विनियोगबोधक शब्द तथा विनियोग सम्बन्धबोधक शब्द। विधत्ते इति विधात्री इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से जिससे विधि का विधान विहित हो उसे विधात्री कहते हैं। 'दध्ना जुहोति', 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' आदि उदाहरणों में 'जुहोति एवं यजेत' आदि पद विधात्री श्रुति है क्योंकि 'लट्' एवं विधिलिङ् लकारों द्वारा अग्निहोत्र एवं ज्योतिष्टोमादि यागों का विधान कर रहे हैं।

अभिधात्री श्रुति में विधान या विनियोग अभिप्रेत नहीं हुआ करता, अपितु पदार्थ का उच्चारण (=अभिधान) द्वारा ही अपेक्षित वस्तु का ज्ञान होता है। यथा—'व्रीहीन्, अवहन्ति, व्रीहीन् प्रोक्षति' आदि उदाहरणों में 'व्रीहि' का अभिधान किया गया है।

विनियोक्त्री (यस्य च शब्दस्य श्रवणात् सम्बन्धः प्रतीयते सा विनियोक्त्री; सा=सः (शब्दः), स शब्दो विनियोक्त्री (श्रुतिरित्यर्थः)। श्रुति के लक्षण में श्रुति का निरपेक्षत्व 'श्रवणादेव' पद से द्योतित हो रहा है तथा 'अङ्गाङ्गिभाव बोधन' 'सम्बन्धः प्रतीयते' पद से ज्ञापित हो रहा है।

(१२) सापि त्रिविधा-विभक्तिरूपा, एकाभिधानरूपा, एकपदरूपा चेति। तत्र विभक्तिश्रुत्या अङ्गत्वं यथा 'व्रीहिभिर्यजेते'ति ब्रीहीणां यागाङ्गत्वम्। तदपि पुरोडाशप्रकृतितया। यथा पशोर्हृदयादिरूपहविः प्रकृतितया यागाङ्गत्वम्।

'अरुणयापिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाती' त्यस्मिन् वाक्ये आरुण्यस्यापि ततीयाश्रुत्या क्रयाङ्गत्वम्। तदपि गोरूपद्रव्यपरिच्छेदद्वारा न तु साक्षात्, अमूर्तत्वात्।

'व्रीहिन्प्रोक्षती'ति प्रोक्षणस्य व्रीह्यङ्गत्वं द्वितीयाश्रुत्या। तच्च प्रोक्षणं न व्रीहिस्वरूपार्थम्, तस्य तेन विनाप्युपपत्तेः, किन्त्वपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्। व्रीहीनप्रोक्ष्य यागानुष्ठानेपूर्वानुपपत्तेः। एवं सर्वेष्वङ्गेष्वपूर्वप्रयुक्तमङ्गत्वं बोध्यम्।

एवम् 'इमामगभ्णन्रशनामतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त' इत्यत्र द्वितीयाश्रुत्या मन्त्रस्याश्वाभिधान्यङ्गत्वम्।

'यदाहवनीये जुहोतीत्याहवनीयस्य होमाङ्गत्वं सप्तमीश्रुत्या। एवमन्योपि विभक्तिश्रुत्या विनियोगो ज्ञेयः।

अर्थ :- इनमें विभक्तिश्रुति से अङ्गत्व का उदाहरण 'व्रीहिभिर्यजेत'—धान से याग करें—सदश वाक्यों में मिलता है। व्रीहि में प्रयुक्त ततीया विभक्ति से व्रीहि की याग की अङ्गता ज्ञात होती है। वह भी अर्थात् व्रीहि की यागाङ्ता भी पुरोडाश की प्रकृति होने से ही सिद्ध होती है जैसे कि हृदय आदि रूपी हव्य की प्रकृति होने से ही पशु की यागाङ्ता स्वीकार की जाती है।

'अरुणया एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति'—रक्तवर्ण, एकवर्षीया गौ से सोम खरीदता है—इस वाक्य में रक्तवर्ण की क्रय की अङ्गता ततीयाश्रुति से प्राप्त होती है। वह अङ्गता भी गौरूपी द्रव्य के विशेषण के रूप से सिद्ध होती है, न कि साक्षात्, क्योंकि अरुणता स्चयं में अमूर्त है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति'—धानों का प्रोक्षण करता है—में प्रोक्षण की व्रीहि की अङ्गता द्वितीया श्रुति के कारण है। और वह प्रोक्षण भी व्रीहि की स्वरूप की सिद्धि के लिए नहीं है, क्योंकि उसकी धान के स्वरूप की उस प्रोक्षण के अभाव में भी निष्पत्ति होती है, अपितु प्रोक्षण का प्रयोग अपूर्व के साधन के लिए होता है, क्योंकि धान का प्रोक्षण किये बिना याग का अनुष्ठान करने से अपूर्व की निष्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार सभी अङ्गों में अपूर्व की निष्पत्ति के लिए ही अङ्गता समझनी चाहिये।

इसी भाँति 'इमाम् अगभ्णन् रशनाम् ऋतस्य' इति अश्वाभिधानीमादन्ते'—फल से सम्बन्धित सत्य की इस रज्जु को पकड़ा, इस मन्त्र से घोड़े की रस्सी को पकड़ता है — इस वाक्य में द्वितीया श्रुति से मन्त्र की अश्वाभिधानी की अङ्गता सिद्ध होती है।

'यदाहवनीये जुहोति'–जो कि आहवनीय अग्नि में होम करता है–इसमें आहवनीय होम का अङ्ग सप्तमी श्रुति से सिद्ध होता है। इसी प्रकार विभक्ति–श्रुति के द्वारा और भी विनियोग समझे जाने चाहिये।

विशेष :- विनियोग विधि के सहकारिभूत षट् प्रमाणों में प्रथम प्रमाण 'श्रुति' के तीन प्रकार होते हैं–विधात्री, अभिधात्री और विनियोक्त्री श्रुति। पुनः विनियोक्त्री श्रुति के विभक्तिरूपा, एकामिधानरूपा तथा एकपदरूपा भेद तीन प्रकारों की चर्चा प्रस्तुत प्रकरण में की गई है।

विभक्ति रूपा श्रुति विभक्ति से सम्बद्ध है। षष्ठी को मिलाकर सात कारक माने गये हैं जिनमें एकत्व द्वित्व एवं बहुत्व के बोधक सुबादि प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने विभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति को स्पष्ट करने के लिए प्रधानता की बोधक प्रथमा विभक्ति को छोड़कर शेष विभक्ति में से कुछ के गौणता बोधक उदाहरण दिये हैं तथा अन्यों को उसी भाँति समझ लेने का संकेत किया है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'व्रीहिभिर्यजते' इस वाक्य में व्रीहि पदोत्तर सुनी जाने वाली ततीया विभक्ति करणत्व का बोध करा रही है जो कि व्रीहि में विद्यमान है और विधेय का परिचायक है।

विधेयत्व ही सामानाधिकरण्य से 'अङ्गत्व' रूप में जाना जाता है। इस प्रकार यागगत प्राधान्य से निरूपित अङ्गत्व 'व्रीहि' में विद्यमान होने से व्रीहि का यागांग होना ततीया श्रुति से सिद्ध है। परन्तु व्रीहि का याग का अंग होना साक्षात् सिद्ध नहीं है अतः ग्रन्थकार ने कहा है–'तदपि पुरोडाशप्रकृतितया।' आशय यह है कि 'यदाग्नेयोष्टाकपालोमावस्यायां पौर्णमास्याचाच्युतों भवति' इस उत्पत्ति वाक्य में अष्टफल द्वारा संस्कृत पुरोडाश को याग का अंग माना गया है। परन्तु 'पुरोडाश' का निर्माण भी किसी द्रव्य के पेषण से होता है वही प्रकृति द्रव्य 'व्रीहिभिर्यजेत' से विहित है। अतः पुरोडाश की प्रकृति होने से व्रीहि याग के अंग हुये। इस सन्दर्भ को अधिक स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थकार ने आगे लिखा है–'यथा पशोर्हृदयादिरूपहविः प्रकृतितया यागांगत्वम्।'

'पशुना यजेत' इस वाक्य से पशु का याग का अंग माना गया है। परन्तु पशु का याग के साथ सम्बन्ध परम्परया है साक्षात् नहीं। क्योंकि सम्पूर्ण पशु याग के लिये नहीं होता अपितु उसके कतिपय शरीराङ्ग ही यज्ञ में विनियुक्त होते हैं। 'हृदयस्य अग्रेवद्यति, अथ जिह्वायाः, अथ वक्षसोवद्यति, दोष्णोरवद्यति, पार्श्वयोरवद्यति।' इत्यादि वाक्यों से हृदयादि अवयवों का ही विधान किया गया है। अतः साक्षात्पशु को ही अग्नि में नहीं डाल देना चाहिये अपितु देवता के लिये शास्त्रोक्त विधि से तत् तत् अवयवों का खण्ड अग्नि में प्रक्षेप करना चाहिये। अतः जिस प्रकार पशु प्रकृतिभूत होने के कारण याग का अंग है उसी प्रकार व्रीहि भी याग का अंग है यह सिद्ध होता है।

आकृत्याधिकरण न्याय से अरुणाशब्द 'अरुणिम गुण' का वाचक है। यह वाक्य ज्योतिष्टोम याग में सोमलता के क्रय का विधान करता है। अन्यथा क्रय के अप्राप्त होने से उसका विधायक होने से भावना में धात्वर्थ क्रयण का 'करणत्व' रूप से अन्वय होगा। 'क्रयणेन सोमं भावयेदिति'। आशय यह है कि–कारक का क्रिया में ही अन्वय होता है। इस प्रकार आरुण्य में ततीया विभक्ति का श्रवण होने से प्रथमतः क्रयण क्रिया में ही साक्षात् अन्वय होगा। परन्तु आरुण्य गुण से तो क्रय किया जाना सम्भव नहीं है अतः अपने आश्रय मूल गो रूप द्रव्य द्वारा परम्परा से ही उसका अन्वय होगा।

ततीयाविभक्तिरूपा विनियोक्त्री श्रुति का प्रतिपादन करके ग्रन्थकार ने सम्प्रति द्वितीया विभक्तिरूपा श्रुति पर विचार किया है।

यहाँ शंका हो सकती है कि ग्रन्थकार को सर्वप्रथम द्वितीया श्रुति का उदाहरण देना चाहिए, उसने ततीया श्रुति का प्रथमतः उदाहरण क्यों दिया ? इसका समाधान यह है कि अंगत्वबोधक प्रमाणों में श्रुति का स्थान सर्वप्रथम है। जहाँ उत्तर में ततीया श्रुति का श्रवण होता है वहाँ वह उसके अंग का बोध कराते हुए साक्षात् 'अंगत्व' का ग्रहण कराती है। परन्तु द्वितीया श्रुति जिसके उत्तर में रहती है वहाँ वह सामानाधिकरण्य से उसके प्रधान का बोध कराते हुए उससे भिन्न अंग का ग्रहण कराती है। जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इस वाक्य में 'व्रीहि' पदोत्तर श्रूयमाण द्वितीया विभक्ति व्रीहियों का उद्देश्य बोध कराते हुए व्रीहि निरूपित अङ्ग 'प्रोक्षण' का भी ज्ञान कराती है। तात्पर्य है कि व्रीहि के उद्देश्य से विधीयमान् प्रोक्षण से उद्देशभूत व्रीहि का प्राधान्य समझा जाता है एवं विधेयभूत प्रोक्षण का अंगत्व बोध द्वितीया श्रुति से होता है।

इस सम्बन्ध में दूसरी समस्या यह है कि व्रीहि को प्रोक्षण का अंग क्यों न माना जाये जैसा कि 'व्रीहिभिजेयत' वाक्य में पहले स्वीकार किया गया है ? समाधान यह है कि 'व्रीहिभिः' में ततीयान्त श्रुति से स्पष्ट है कि यह साधन होने के कारण किसी का अंगभूत है। परन्तु द्वितीया विभक्ति में यह सिद्धान्त उपादेय नहीं है। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' में व्रीहि में द्वितीया विभक्ति के कारण 'साध्यत्व' की प्रतीति होती है अतः साधनरूप में प्रोक्षण को स्वीकार करना होगा। इस प्रकार व्रीहि अंगी है एवं प्रोक्षण अंग।

अब इस प्रसंग में एक चर्चा और है—प्रोक्षण का प्रयोजन क्या है ? कहीं ऐसा तो नहीं, कि प्रोक्षण से व्रीहि अपने स्वरूप की सिद्धि करने में समर्थ होता है। परन्तु यह समाधान भी उचित नहीं है क्योंकि प्रोक्षण के विना भी व्रीहि के स्वरूप की हानि नहीं होती, अतः प्रत्यक्षतः प्रोक्षण क्रिया का प्रयोजन दष्टिगत नहीं होता। इस शंका का समाधान है—'अपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तम्'। भाव यह है कि व्रीहि का प्रोक्षण न करने पर अपूर्व की उत्पत्ति न हो सकेगी। सिद्धान्ततः अपूर्व विना याग से फलप्राप्ति असम्भव है। जैसे अनुपनीत ब्राह्मण बालक के द्वारा सम्पन्न वेदाध्ययन से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती उसी तरह व्रीहि के प्रोक्षण के विना यागानुष्ठान से अपूर्व की उत्पत्ति नहीं होती है। इसी तरह का समाधान अन्य अपूर्व प्रयोजक अंगों के सम्बन्ध में जानना चाहिये। 'आज्यमवेक्षते' आदि उदाहरणों में 'आज्य अवेक्षण' घतदर्शन यद्यपि दष्टार्थ के जनक नहीं है तथापि इनके स्वरूप को देखते हुए अपूर्व प्रयोजन इन्हें भी मानना पड़ता है।

सप्तमी श्रुति का उदाहरण 'यदाहवनीये जुहोति' दिया गया है। यहाँ होम के उद्देश्य से आहवनीय का अधिकरण रूप में विधान किया गया है। आधान संस्कार द्वारा संस्कृत अग्नि को आहवनीय कहते हैं। यहाँ आधार आह्वनीय अंग है एवं आधेय 'होम' अङ्गी। अभी तक ततीया, द्वितीया एवं सप्तमी विभक्तियों के ही उदाहरण ग्रन्थकार ने दिये हैं। चतुर्थी, पचमी, षष्ठी, विभक्तियाँ भी विनियोग विधि के प्रसंग में जहाँ प्रयुक्त होती है वहाँ अंगत्व बोध की सहायिका होती हैं। यथा चतुर्थी विभक्तिरूपा विनियोक्त्रीश्रुति के उदाहरण 'मैत्रावरुणाय दण्डं प्रयच्छति' में मैत्रावरुण संज्ञक ऋत्विज 'दण्डप्रदान' क्रिया का अंग है। 'अग्नेः तणान्यपचिनोति' में पचम्यन्त प्रयुक्त अग्नि तणपचयन' क्रिया का अंग है। 'यजमानस्य याज्या' में यजमान याज्या का अंग है।

(१३) 'पशुनायजेते'त्यत्रैकत्वपुंस्त्वयोः समानाभिधानश्रुत्या कारकाङ्गत्वम्। यजेतेत्याख्याताभिहितसंख्याया भावनाङ्गत्वं समानाभिधानश्रुतेरेव एकपदश्रुत्वा च यागाङ्गत्वम्।

न चामूर्तायास्तस्याः कथं भावनाङ्गत्वमिति वाच्यम्, कर्तपरिच्छेदद्वारा तदुपपत्तेः। कर्ता चाक्षेपलभ्यः।

आख्यातेन हि भावनोच्यते। सा च कर्तारं विनानुपपन्नेति तमाक्षिपति।

अर्थ :- वह विनियोत्री श्रुति भी तीन प्रकार की हैं—१. विभक्तिरूपा २. एकाभिधानरूपा और ३. एकपदरूपा।

'पशुना यजेत' इस वाक्य में एकत्व संख्या तथा पुल्लिङ्गता दोनों की कारक की अङ्गता समानाभिधानश्रुति से होती है। 'यजेत' में आख्यात से द्योतित संख्या समानाभिधान श्रुति से ही शाब्दी भावना का अङ्ग होती है और एकपदश्रुति से वह धात्वर्थ याग का अङ्ग होती है।

'अमूर्त' संख्या भावना का अङ्ग कैसे हो सकती है, यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि संख्या की अङ्गता की संगति कर्त्ता के सम्बन्ध से हो जाती है। उक्त न होने से कर्त्ता की प्राप्ति आक्षेप से होती है।

आख्यात से आर्थी भावना का कथन होता है। वह (भावना) कर्त्ता के अभाव में संभव नहीं होती, अतः उस का आक्षेप कर लेती है।

विशेष :— एकाभिधान तथा समानाभिधान दोनों ही समानार्थक हैं और परस्पर पर्यायवाची हैं। जिससे किसी वस्तु को अभिहित किया जाये वह 'अमिधान' है। 'एक' शब्द अकेले का वाचक है जबकि 'समान' अनेक में सादश्य का किन्तु ग्रन्थकार की दष्टि में दोनों एक हैं। अतः पूर्व में 'एकाभिधान' शब्द का प्रयोग करके यहाँ एकाभिधान की जगह समानाभिधान का प्रयोग किया है।

'पशुना यजेत' इस उदाहरण में एक ही 'टा' प्रत्यय द्वारा करण कारक, संख्या एकत्व एवं लिङ्ग पुंस्त्व का बोध हो रहा है, अतः इस प्रत्यय को एकाभिधान या समानाभिधान कहा गया है। संख्या आदि प्रातिपदिकार्थ से साक्षात् सम्बद्ध होते हैं। करण एवं संख्या एक प्रत्यय से जाने जाते हैं। सामान्य रूप में भी संख्या लिङ्ग आदि का अन्वय कारक से होता है।

'यजेत' यह तिङन्त पद एकरूपता विनियोक्त्रीश्रुति का दष्टान्त है। इसके द्वारा धात्वर्थ याग एवं संख्यादि की प्रतीति होती है। यहाँ याग प्रधान या अंगी है और 'यजेत' पद पर दष्टिपात करने पर स्पष्ट होता है कि 'यजेत' से याग '(यज् धात्वर्थ) संख्या, एवं आख्यातादि सभी का बोध हो रहा है अतः इन्हें 'एकपदाभिहित' और प्रकारान्तर से इसे 'एकपदरूपाश्रुतिः' कहा जा सकता है। याग एवं संख्या में याग अंगी है क्योंकि स्वर्गरूपी फलप्राप्ति का साधन है और संख्या 'एकपदश्रुति' होने से याग का अंग है।

इससे पूर्व यह प्रतिपादित किया गया है कि 'समानाभिधानश्रुति' से संख्या भावना का अंग है एवं 'एकपदश्रुति' से याग का अंग है। परन्तु शंका यह है कि संख्या गुण होने से अमूर्त है अतः यह भावना एवं याग का अंग कैसे हो सकती है। इस तरह की शंका का उत्तर 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या' आदि दष्टान्त के निरूपण के समय दिया जा चुका है। अतः प्रकृत सन्दर्भ में भी 'कर्तपरिच्छेदः द्वारा यह निर्णीत हो जाता है कि संख्या भावना एवं याग का अङ्ग है।

कर्त्ता की अनुपलब्धि में उसकी प्राप्ति कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर है "कर्त्ता च...अक्षिपति। भाव यह है कि–आक्षेपलभ्यः का अर्थ है 'आक्षेपः अनुमानमर्थापत्तिर्वा। तादशानुमानेन लभ्योनुमेयः कल्प्यो वा'। आख्यात पद आर्थीभावना को द्योतित करता है। भावना एक व्यापार है और कोई भी व्यापार कर्त्ता के बिना सम्भव नहीं है। अतः कर्त्ता का अनुमान किया जाता है।

(१४) सेयं श्रुतिर्लिङ्गादिभ्यः प्रबला। लिङ्गादिषु न प्रत्यक्षो विनियोजकः शब्दोस्ति किन्तु कल्प्यः। यावच्च तैर्विनियोजकशब्द कल्प्यते तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्या विनियोगस्य कृतत्वेन तेषां कल्पकत्वशक्तेर्व्याहतत्वात्। अत एवैन्द्रया लिङ्गान्नेन्द्रोपास्थानार्थत्वम्। किन्तु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठत' इत्यत्र गार्हपत्यमिति द्वितीयाश्रुत्या गार्हपत्योपस्थानार्थत्वम्।

अर्थ :- यह श्रुति प्रमाण लिङ्ग आदि प्रमाणों से प्रबल है। क्योंकि लिङ्ग आदि में विनियोग कराने वाला–अङ्गता का ज्ञापक कोई शब्द साक्षात् उपस्थित नहीं होता, अपितु उस निवियोजक शब्द की कल्पना करनी पड़ती है। अतः जब तक उन लिङ्गादि के द्वारा गौणतारोधक शब्द की कल्पना की जाती है, तब तक प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग सम्पन्न होने से उन लिङ्गादि की आक्षेप शक्ति समाप्त हो जाती है। इसी से ऐन्द्री ऋचा लिङ्गप्रमाण के द्वारा इन्द्रोस्थाप के लिए नहीं उपस्थित हो पाती अपितु 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते'–ऐन्द्री ऋचा से गार्हपत्य को सम्पन्न करता है–इस वाक्य में 'गार्हपत्यम्' में विद्यमान द्वितीयाश्रुति के द्वारा गार्यपत्य के निष्पादन के लिए उसका प्रयोग होता है।

विशेष :- विनियोगविधि के सहकारितभूत श्रुति आदि षट् प्रमाणो में कौन सा प्रमाण सबल तथा कौन सा दुर्बल है, इसका विचार इस प्रकरण में किया गया है :–

एक ही विषय मे श्रुति, लिङ्ग आदि किन्हीं दो के मध्य विनियोग सम्बन्धित विरोध उपस्थित होने पर 'पर' की अपेक्षा 'पूर्व' के प्रबल होने पर 'पर' का बाध हो जाता है। अतः श्रुति के साथ लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान एवं समाख्या के विरोध में श्रुति प्रबल होती है। इस प्रकार लिङ्ग के साथ वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या के विरोध में लिङ्ग ही प्रबल होता है और लिङ्ग के अनुसार अङ्ग का निरूपण होता है। इसी तरह वाक्य के साथ प्रकरण आदि के विरोध में वाक्य, प्रकरण के साथ स्थान आदि के विरोध में प्रकरण, स्थान और समाख्या के विरोध में स्थान प्रबल होते हैं। महर्षि जैमिनि ने "श्रुतिलिङ्ग–वाक्य–प्रकरण–स्थान–समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' ३.३.१४ सूत्र में इस मान्यता का विशद निरूपण किया है। यद्यपि सूत्र में 'पारदौर्बल्यम्' ऐसा कहा गया है तथापि इससे पूर्व का प्रबल होना ही विवक्षित है। इसमें हेतु 'अर्थ विप्रकर्षात्' है। क्योंकि श्रुत्यर्थ से लिङ्ग आदि विप्रकृष्ट है। वस्तुतः विधायकता शक्ति, एकमात्र श्रुति से वह दुर्बल होता है और श्रुति प्रबल है। संक्षेपतः श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, स्थान आदि में से श्रुति सदैव बाधिका है और समाख्या सदैव बाधित है। इस तरह लिङ्ग, वाक्य आदि कभी बाध्य और कभी बाधक होते हैं।

लिङ्ग की अपेक्षा श्रुति का प्राबल्य निरूपण करने के लिए 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' यह उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। 'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' इत्यादि मन्त्र ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। ऋचा में 'इन्द्र' पद के प्रयोग से इसका नाम 'ऐन्द्री' है। परन्तु इस मन्त्र का विनियोग कहाँ किया जाये, यह ज्ञात नहीं है। मन्त्रगत सामर्थ्य से चूंकि वह मन्त्र इन्द्र का प्रकाशन करता है अतः इन्द्र देवता सम्बन्धित कुछ क़र्त्तव्य होगा, ऐसी कल्पना करनी पड़ती है। वस्तुतः उक्त मन्त्र के अनुसार ऐसा बोध होता है कि जिस कर्म का साधन अर्थात् अंग है इन्द्र उसमें प्रधान है। इसे ही लिङ्ग विनियोग कहा जाता है। इसके अनन्तर उक्त मन्त्र के लिङ्ग के अनुसार वह इन्द्र देवता की उपस्थान रूपी क्रिया का अङ्ग होता है।

'गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस श्रुतिवाक्य में द्वितीयान्त 'गार्हपत्यं' यह शब्द गार्हपत्य के प्राधान्य को सूचित करता है। प्रधान होने से उसकी क्रिया अवश्य होती है। क्योंकि गुण (अप्रधान) न रहने से कोई प्रधान नहीं हो सकता अतः उससे किसी क्रिया के प्रति गार्हपत्य के प्राधान्य का बोध होता है। अतः 'ऐन्द्रया उपतिष्ठते' इस अंश से ऐन्द्र मन्त्र द्वारा गार्हपत्य की उपस्थान रूपी क्रिया करे–ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार श्रुति एवं लिङ्ग के विनियोग में श्रुति और लिङ्ग दोनों ही प्रमाण हैं। अतः दोनों का ही विनियोग श्रुति के अनुसार इन्द्र का अंग है। विकल्प से यह भी माना जा सकता है कि श्रुति एवं लिङ्ग का समुच्चय ही अङ्ग है क्योंकि इन्द्र और गार्हपत्य दोनों ही प्रधान हैं। पूर्व पक्ष का यह भी कहना है कि यहाँ लिङ् से श्रुति ही बाधित है क्योंकि जिस विषय में जिसका सामर्थ्य नहीं है उस विषय में उसका विनियोग नहीं किया जाता है। अन्यथा 'वह्निना सिचेत्, 'वारिणा दहेत्' इत्यादि विनियोग भी होने लगेगे। कहा भी गया है–

'वस्तुशक्त्यनुसारी हि सर्वः शब्दः प्रवर्त्तते।'

अर्थात् वस्तुशक्ति के अनुसार शब्द की प्रवत्ति होती है। विनियोग की जाने वाली वस्तु के अनुसार श्रुति उसे नियुक्त करती है। यहाँ श्रुति लिङ्ग पर आश्रित है। अतः श्रुति और लिङ्ग के बीच विरोध में उपजीवक श्रुति दुर्बल पड़ जाती है और उपजीव्य लिङ्ग प्रबल हो जाता है। यह पूर्वपक्ष का आशय है।

सिद्धान्त पक्ष के अनुसार श्रुति और लिङ्ग के विरोध में लिङ्ग का ही बाध होता है क्योंकि 'अर्थ विपकर्षात्' के अनुसार श्रुति साक्षात् विनियोजिका होती है अतः शीघ्र प्रवत्त होती है। लिङ्ग कल्पना के द्वारा विनियोग करता है इसलिये विलम्ब से प्रवत्त होता है। अतः लिङ्ग के द्वारा विनियोग किये जाने से पहले प्रत्यक्ष श्रुति के द्वारा विनियोग किये जाने से लिङ्ग कल्पित श्रुति निर्विषय होकर बाधित हो जाती है।

अतः ऐन्द्र मन्त्र में मुख्य इन्द्र के सदश ही गार्हपत्य प्रकाशन सामर्थ्य है इसलिए सामर्थ्याभावरूप प्रतिबन्धक नहीं रहने से द्वितीया श्रुति से शीघ्र ही गार्हपत्य का विनियोग होगा अर्थात् ऐन्द्र मन्त्र गार्हपत्य अग्नि के उपस्थापन का ही अंग है इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग तो विलम्ब से विनियोग करेगा। अतः लिङ्ग से श्रुति प्रबल है।

(१५) शब्दसामर्थ्यं लिङ्गम्। यथाहुः-'सामर्थ्य सर्वशब्दानां लिङ्गमित्यभीधीयते' इति। सामर्थ्यं रूढिरेव। तेन समाख्यातोस्या भेदः। यौगिकशब्दसमाख्यातो रूढ्यात्मकलिङ्गशब्दस्य भिन्नत्वात्। तेन 'बर्हिर्देवसदनं दामी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं न तूलपादिलवनाङ्गत्वम्। तस्यबर्हिर्दामीति लिङ्गात्तल्लवनं प्रकाशयितुं समर्थत्वात्। एवमन्यत्रापि लिङ्गाद्विनियोगो द्रष्टव्यः।

अर्थ :- शब्द की अभिधान शक्ति लिङ्ग है। जैसा कहा भी गया है—सभी शब्दों की शक्ति लिङ्ग कही जाती है। शक्ति रूढ़ि ही होती है। इसलिये समाख्या से इसमें भिन्नता है, क्योंकि यौगिक शब्दरूपी समाख्या से रूढ़िरूपी लिङ्ग की भिन्नता है। इसी से 'बर्हिः देवसदनं दामि' (देवों के सदन बर्हि को काटता हूँ') यह मन्त्र कुश के काटने का अङ्ग है न कि उलप आदि के काटने का, क्योंकि 'बर्हिः दामि' इस लिङ्ग से उसकी कटाई को व्यक्त करने में समर्थ है। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी लिङ्ग से विनियोग समझना चाहिये।

विशेष :- श्रुति एवं उसके प्राबल्य का निरूपण करके ग्रन्थकार ने लिङ्ग नामक द्वितीय प्रमाण का प्रतिपादन यहाँ किया है। शब्द सामर्थ्य को लिङ्ग कहा गया है। सामर्थ्य से यहाँ 'अर्थाभिधानशक्ति' का बोध होता है। अतः भाष्यकार ने भी कहा है—'यच्छब्दस्यार्थमभिधातुं सामर्थ्यं तल्लिङ्गमिति'। वार्त्तिकार कुमारिल भट्ट का मत है कि—"यच्छब्दस्योक्तिसामर्थ्यं तल्लिङ्गम्'। सामर्थ्य दो प्रकार का होता है। शब्दगत एवं अर्थगत। अर्थगत सामर्थ्य का निरूपण प्रथमाध्याय के अन्त में 'सामर्थ्याधिरण' नामक अधिकरण में 'स्रुवेणावद्यति' 'स्वधितिनावद्यति' आदि उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। इससे पूर्व कि हम प्रकृत सन्दर्भ की मीमांसक सरणि का अवलम्बन कर विषयबोध—प्रक्रिया में प्रवत्त हों, यह जान लेना आवश्यक है कि शब्द के सम्बन्ध में मान्य सिद्धान्त क्या है ? वस्तुतः शब्द चार प्रकार के माने गये हैं—रूढ, लक्षक, योगरूढ, यौगिक। कुछ लोग रूढ़यौगिक शब्द भी मानते हैं। इस प्रकार शब्द के पाँच प्रकार स्थिर होते हैं।

समाख्या यौगिक शब्द है और लिङ्ग 'रूढ' शब्द है। अतः दोनों में भेद है। इस प्रकार के भेद के स्पष्टीकरण हेतु 'बहिर्देवसदनं दामि' यह दष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। ज्ञातव्य यह है कि इस मन्त्र का विनियोग क्या है ? इस सम्बन्ध में पूर्वप्रतिपादित 'स्वाभिधेय प्रतिपादनादि चारों व्यापारों का बोध होना आवश्यक है। प्रथमतः 'स्वाभिधेय प्रतिपादन' रूपी व्यापार से इस मन्त्र का पद—पदार्थ ज्ञान आवश्यक है। द्वितीय सामर्थ्य निरूपण के बल से यह ज्ञात होता है कि प्रकृत मन्त्र में प्रयुक्त 'दामि' पद का अर्थ 'लवन' अर्थात् छेदन है। परन्तु पद सामर्थ्य ही लिङ्ग कहा गया है अतः 'बहिष्' पद द्वारा कृश का ग्रहण एवं उलप आदि अन्य तणों की व्यावृत्ति हो जाती है। श्रुति कल्पना द्वारा 'अनेन मन्त्रेण कुशलवनं कार्यम्' यह बोध होगा। अन्ततः विनियोग बोध 'अस्य मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वम्' इस प्रकार होगा। अत एव 'बहिर्देवसदनं दामि' यह मन्त्र कुशलवन (छेदन) का अंग होता है। समाख्या के बल से कुश सदश उलपादि तण विशेष के 'लवन' का अंग नहीं होता है क्योंकि बहिंष् पद की रूढ़ि कुश में ही है अतः 'बहिर्दामि' इस लिङ्ग से कुशलवन प्रकाशन सामर्थ्य विद्यमान है।

यहाँ पर भी ध्यातव्य है कि मीमांसकों ने लिङ्ग के दो भेद माने हैं—(1) सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तर निरपेक्ष एवं (2) सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तर सापेक्ष। उनमें जिसके बिना जो असम्भव हो वह सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तर की अपेक्षा रहित केवल लिङ्ग से उसका अंग होता है। यथा अर्थज्ञान के बिना कर्मानुष्ठान असम्भव है अतः अर्थज्ञान कर्मानुष्ठान का अंग केवल लिङ्ग से होता है। जिसके बिना भी जो सम्भव हो वह सामान्यसम्बन्धबोधक प्रमाणान्तरसापेक्ष लिङ्ग से उसका अङ्ग होता है। 'बहिंर्देवसदनं दामि' इस मन्त्र में प्रमाणान्तर की अपेक्षा के कारण मन्त्र में पठित बहिं एवं लवन का अङ्गाङ्गिभाव स्पष्ट है। दर्शपूर्णमास प्रकरण में इस मन्त्र का पाठ है। प्रकरण से ज्ञात होता है कि यह मन्त्र दर्शपूर्णमास का उपकारक है। यह जान लेने पर इसी सामर्थ्य से बहिंर्लवनं 'अनेन बहिंर्लवनं कर्त्तव्यम्' रूप विशेषार्थ का बोध होता है। यहाँ पर यदि यह शंका की जाये कि मन्त्रोच्चारण बिना ही 'बहिंष्' का छेदन हो जाये तब मन्त्रगत सामर्थ्य मन्त्र के विनियोग हेतु सामान्यसम्बन्ध बोधक प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है। यह प्रमाण 'प्रकरण' नाम से जाना जाता है। अतः सामान्यसम्बन्धबोधक प्रकरणादि 'प्रकरण'

नाम से जाना जाता है। अतः सामान्यसम्बन्धबोधक प्रकरणादि प्रमाण को अवश्य स्वीकार करना होगा अन्यथा मन्त्र का प्रकरण पाठ व्यर्थ हो जायेगा।

(१६) तदिदं लिङ्गं वाक्यादिभ्यो बलवत्। अत एव 'स्योनं ते सदनं कृणोमी'ति मन्त्रस्य कुशलवनाङ्गत्वं सदनं कृणोमीति लिङ्गात् न तु वाक्यात्।

अर्थ :- यह लिङ्ग वाक्य आदि से बलवान है। इसीलिये 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'–तुम्हारे लिये सुखद सदन बनाता हूँ–यह मन्त्र पुरोडाश–सदनकरण का अङ्ग 'सदनं कृणोमि' इस लिङ्ग से है न कि वाक्य से।

विशेष :– स्योनं ते सदनं कृणोमि घतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि।

तस्मिन् सीदामत प्रतिष्ठित व्रीहीणां मेध सुमनस्यमानः।।

इस मन्त्र में 'स्योनम्' से लेकर कल्पयामि तक का अंश सदन (स्थान करण) अर्थ का प्रकाशन करता है और तस्मिन् सीद इत्यादि अंश सादन (स्थापन) अर्थ का प्रतिपादन करता है। इस मन्त्र का विनियोग पुरोडाश स्थापन में है। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का मन्तव्य है कि सम्पूर्ण मन्त्र को सदन एवं सादन दोनों कर्मों के लिये विनियुक्त किया जा सकता है क्योंकि लिङ्ग की अपेक्षा वाक्य बलवान् होता है। लिङ्ग जब श्रुति से बाधित होता तब वह वाक्य से भी बाधित हो सकता है। इस मन्त्र में 'तस्मिन्' पद शेष अंश के साथ साकाङ्क्ष है अतः पूर्व अंश से उसे पथक् करना उचित नहीं है क्योंकि परस्पर साकांक्ष होने से एकवाक्यता बन जाती है अतः वाक्यभेद समुचित नहीं है। इस प्रकार यह मन्त्र सदन और सादन दोनों अर्थों का प्रकाशक है। सदन और सादन में समुदित रूप से मन्त्र का विनियोग होना चाहिये। अथवा, वाक्य और लिङ्ग दोनों श्रुतिसापेक्ष होने से तुल्यबलसम्पन्न है अतः प्राबल्य दौर्बल्य भाव का प्रश्न ही नहीं है।

सिद्धान्त पक्ष का समाधान यह है कि–ठीक है, लिङ्ग और वाक्य दोनों ही श्रुति की कल्पना कर विनियोग का विधान करते हैं तथापि 'पारदौर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' अर्थात् वाक्य लिङ्ग की अपेक्षा दुर्बल होता है क्योंकि पहले वाक्य में लिङ्ग की कल्पना करके फिर श्रुति की कल्पना करनी पड़ती है अतः वाक्य का विनियोग विलम्बित हो जाता है जबकि लिङ्ग से श्रुति साक्षात् कल्पित होने से लिङ्ग की प्रवत्ति विनियोग में वाक्य की अपेक्षा शीघ्र होती है। अत एव 'सादन अर्थ के प्रकाशक होने से' मन्त्र के उत्तरार्थ की सदन के अर्थ में सामर्थ्य की कल्पना के बिना उसका 'सदन' में विनियोग नहीं किया जा सकता। ठीक उसी प्रकार मन्त्र के पूर्वार्धञसादन के अर्थ में सामर्थ्य कल्पित न होने से 'सादन' में विनियुक्त नहीं हो सकता। अतः वाक्य एवं लिङ्ग दोनों से श्रुति की कल्पना की जाने पर भी वे परस्पर तुल्यबल नहीं हैं क्योंकि लिङ्ग से अव्यवहित रूप और वाक्य से व्यवहित रूप से श्रुति कल्पित होती है। अतः वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग प्रबल होने से दोनों का वैकल्पिक प्रयोग नहीं हो सकता। अत एव लिङ्ग द्वारा पूर्वार्द्ध से सदन करण का एवं उत्तरार्द्ध से पुरोडाश स्थापन (सादन) के विनियोग में कोई प्रतिबन्धक नहीं है।

ञ(१७) समभिव्याहारो वाक्यम्। समभिव्याहारश्च साध्यत्वादिवाचकद्वितीयाद्यभावेपि, वस्तुतः शेषशेषिवाचकपदयोः सहोच्चारणम्। यथा 'यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति न स पापं श्लोकं श्रणोति'। अत्र पर्णताजुह्वोः समभिव्याहारादेव पर्णताया जुह्वङ्गत्वम्।

अर्थ :- समभिव्याहार वाक्य है। साध्यत्व आदि के वाचक द्वितीया आदि के न रहने पर भी वस्तुतः अङ्ग एवं अङ्गी के वाचक पदों का एक साथ उच्चारण समभिव्याहार है। जैसे–जिसकी जुहू पलाश की होती है वह अपयश नहीं सुनता है। यहाँ पर्णता तथा जुहू दोनों का एक साथ उच्चारण होने से ही पर्णता जूहू का अङ्ग है।

विशेष :- इस अनुभाग में वाक्य प्रमाण का निरूपण किया गया है। शेषशेषि या अङ्गाङ्गिवाचक पदों का सहोच्चारण वाक्य कहा जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि साध्यत्वादिवाचक द्वितीयादि विभक्ति का प्रयोग हो; क्योंकि उनके अभाव में भी सहोच्चारण या सनभिव्याहार रहता है। अभिव्याहार का तात्पर्य है कथन या उच्चारण। वस्तुतः शब्दों के परस्पर सम्बद्ध उच्चारण से ही मीमांसक सम्मत वाक्य का लक्षण हो जाता है। परन्तु यह सहोच्चारण अङ्ग एवं अङ्गी वाचक पदों का ही होना चाहिये अन्यथा यथार्थ वाक्यार्थ का बोध नहीं होगा। 'यस्य पर्णमयी जहुर्भवति' न स पापं श्लोकं श्णोति' इस मन्त्र में पर्णमयी एवं जुहू पद साथ–साथ उच्चरित है एवं अङ्ग तथा अङ्गी का बोध कराते हैं। 'पर्णता' जुहू का अङ्ग है। यहाँ यह भी द्रष्टव्य है पणनिर्मित जुहू द्वारा ही शास्त्रोक्त फलसाधन भूत अपूर्व की उत्पत्ति सम्भव है–अन्यथा नहीं।

(१८) न चानर्थक्यम्, अन्यथापि जुह्वाः सिद्धत्वादिति वाच्यम्। जुहूशब्देन तत्साध्यापूर्वलक्षणात्।

तथा च वाक्यार्थः पर्णतयावत्ताहविर्धारणद्वारा जुह्वपूर्व भावयेदिति। एवं च पर्णतया यदि जूहूः क्रियते तदैव

तत्साध्यमपूर्वं भवति नान्यथेति गम्यत इति न पर्णताया वैयर्थ्यम्। अवत्तहविर्धारणद्वारेति। चावश्यं वक्तव्यम्। अन्यथा स्रुवादिष्वपि पर्णतापत्तेः। सेयं पर्णता अनारभ्याधीतापि सर्वप्रकृतिष्वेवान्वेति न विकृतिषु। तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभवात्पौनरुक्त्यापत्तेः।

अर्थ :- यहाँ यह नहीं कहना चाहिये कि पर्णता का उच्चारण व्यर्थ है, क्योंकि अन्यथा भी जूहू को बनाया जा सकता है। वस्तुतः यहाँ 'जुहू' शब्द का लक्षणा से अर्थ है, जुहू के द्वारा साध्य अपूर्व। इस वाक्य का अर्थ हुआ—विभक्त की गयी हवि के धारण द्वारा पलाश से जुहू के अपूर्व की भावना करे। इस तरह यदि पलाश से ही जुहू का निर्माण होता है तभी उससे साध्य अपूर्व बनेगा, नहीं तो नहीं, यह ज्ञात होता है, अतः पर्णता की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती। 'विभक्त अवत्त की गयी हवि के धारण द्वारा' यह शब्द अवश्य कहना चाहिये, नहीं तो स्रुवा आदि में भी पर्णता की व्याप्ति होने लगेगी। यह चर्चित पर्णता सामान्यतः विहित होने पर भी प्रकृतियागों में ही अन्वित होती है, विकृतियागों में नहीं क्योंकि वहाँ विकृति में अतिदेश वाक्यों से भी उसकी प्राप्ति संभव है। यदि विकृतियों में भी पूर्णता आदि की अन्विति मान ली गयी तो पुनरुक्ति की उपस्थिति होगी।

विशेष :- 'जुहू' यज्ञ में प्रयुक्त होने वाला एक पात्र विशेष है जिसका आकार अर्धचन्द्र की भाँति होता है। इसमें दूसरे पात्र से घी काट काट कर रखा जाता है। नियमानुसार इस काटे गये (अवत्त) घत का पात्र पलाश का ही बना होना चाहिये। यद्यपि वह पात्र किसी अन्य काष्ठ का भी बनाया जा सकता है, किन्तु उस काष्ठ से निर्मित पात्र में आवत्तघत रहने से अपूर्व सम्पन्न नहीं हो सकता। अपेक्षित अपूर्व तभी बनेगा जब 'जुहू' पलाशकाष्ठ की होगी। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि दूसरे काष्ठ से भी निर्माण हो सकने से पलाशकाष्ठ व्यर्थ होगा। ऐसी दशा में 'जुहू' शब्द पात्र विशेष का ही वाचक नहीं अपितु उससे सिद्ध होने वाले अपूर्व का वाचक भी है। स्मरण रहे कि 'जुहू' का अर्थ करते समय 'अवन्त हविर्धारणद्वारा' इस पद का ग्रहण आवश्यक है अन्यथा पर्णता की अतिव्याप्ति स्रुवा आदि पात्रों में भी होने लगेगी। जुहू और स्रुवा दोनों यज्ञपात्र भिन्न भिन्न हैं। दोनों का निर्माण भिन्न काष्ठो से होता है और दोनों के कार्य भी भिन्न हैं। जुहू पलाश से स्रुवा खरिदकाष्ठ से बनती है। बड़े पात्र से खण्ड खण्ड करके निकाला हुआ घत जिसमें रखा जाता है वह 'जूहू' है। 'जुहू' में से लेकर घत को अग्नि में आहुत करने वाला पात्र स्रुवा है।

अतिदेश वाक्य से विकृतियाग में 'पर्णता' की प्राप्ति होने पर भी यदि प्रकृति की भाँति उसमें भी पर्णता की स्वतन्त्र प्राप्ति स्वीकार की गयी तो दो दो बार प्राप्त होने से पुनरुक्ति दोष होगा। अतः पुनरुक्ति दोष से बचने के लिये यह आवश्यक है कि 'पर्णता' की अन्विति प्रकृति याग में स्वीकार की जाये तथा विकृति यागों में उसकी प्राप्ति अतिदेश वाक्य से मानी जाये।

(१६) **यत्र समग्राङ्गोपदेशः सा प्रकृतिः, यथा दर्शपूर्णमासादिः। तत्प्रकरणे सर्वाङ्गपाठात्। यत्र न सर्वाङ्गोपदेशः सा विकृतिः। यथा सौर्यादिः। तत्र कतिपयाङ्गानामतिदेशेन प्राप्तत्वात्। अनारभ्यविधिः सामान्यविधिः।**

अर्थ :- जहाँ समस्त अङ्गों का कथन होता है वह प्रकृतियाग है, जैसे दर्शपूर्णमास आदि, क्योंकि उसके प्रकरण में समग्र अङ्गों का पाठ होता है। जहाँ समग्र अङ्गों का उपदेश नहीं होता है वह विकृति है, जैसे सौर्य आदि, क्योंकि वहाँ कुछ अङ्गों की प्राप्ति अतिदेश से भी होती है। अनारभ्यविधि सामान्यविधि है।

विशेष :- याग दो प्रकार के हैं—प्रकृति याग एवं विकृति याग। प्रकृति याग वह है जिनमें अंगों को पूरा—पूरा विधान है। विकृति याग वह है जिनमें किसी विशेष अंग का विधान किया गया है। शेष अंगों को बताया नहीं है परन्तु वे अंग वही होंगे जो प्रकृति याग के हैं। हर प्रकृति याग के विकृति याग होते हैं।

'यस्य पर्णमयी' इत्यादि वाक्य दर्शपूर्णमासादि प्रकरण में पठित नहीं है अतः इस प्रकार 'अनधीत' वाक्यों का सन्निवेश कहाँ किया जाये ? प्रकृति एवं विकृति रूप में यज्ञ का विभाजन किया गया है अतः इस प्रकार के वाक्यों का सन्निवेश प्रकृति में होना चाहिये। यह सम्भव कैसे होगा ? इस प्रश्न का समाधान है—'तत्र चोदकेनापि तत्प्राप्तिसंभावात् पौनरुक्त्यापत्तेः'।

भाव यह है—चोदक पद का अर्थ है—'चोदकं वाक्यं चोदको ग्रन्थो वा'।

इस तरह के वाक्यों द्वारा 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' सदश साधारण नियम का विधान मिलता है। 'चोदक' को अतिदेश' भी कहते हैं। प्रकृति याग के प्रकरण से धर्मों की विकृति के प्रकरण में ले आना। इसे ही 'अतिदेश' या चोदक वाक्य कहते हैं। नियम भी है कि प्रकृति के धर्मों का विकृति में अतिदेश होता है।

(२०) **तदिदं वाक्यं प्रकरणादिभ्यो बलवत्। अत एव 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादेरेकवाक्यत्वाद्दर्शाङ्गत्वं न तु प्रकरणाद्दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्।**

अर्थ :- यह चर्चित वाक्य प्रकरण आदि से प्रबल है। इसीलिये 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि की एकवाक्यता के कारण दर्श की अङ्गता है, न कि प्रकरण के कारण इसमें दर्शपूर्णमास की अङ्गता।

विशेष :- प्रस्तुत सन्दर्भ में वाक्य प्रमाण के प्राबल्य का निरूपण किया गया है। 'इन्द्राग्नी इदं हविः'

इस मन्त्र का दर्शपूर्णमास में सूक्तवाक निगद जप में पाठ किया जाता है। 'अग्नीषोमाविदं....ज्यायोक्राताम्' यह अंश एक स्वतन्त्र वाक्य है और इसका पाठ पूर्णमास याग में करना चाहिये। एवं 'इन्द्राग्नी इदं.....' स्वतन्त्र वाक्य होने से दर्शयाग में पठित होना चाहिये क्योंकि मीमांसक सम्प्रदाय के अनुसार अग्नि एवं सोम पूर्णमास याग के देवता हैं और इन्द्र एवं अग्नि दर्शयाग के अतः प्रकरणानुरोध से अग्निषोमौ इतना अंश छोड़कर शेष अंश का पाठ दर्शयाग में और 'इन्द्राग्नी' इस पद को छोड़कर शेष अंश का पाठ 'पूर्णमास याग' में करना चाहिये। इस प्रकार के विनियोग से प्रकरण की मर्यादा रक्षित होती है अथवा वाक्य और प्रकरण के तुल्यबल होने से उनका वैकल्पिक विनियोग होगा। ये दोनों विनियोग का सामर्थ्य केवल श्रुति में है। अतः श्रुति के आश्रित होने से वाक्य एवं प्रकरण दोनों तुल्यबल हैं। पर सिद्धान्ती इस समाधान पर सहमत नहीं हैं। उसका विचार है कि 'पारदीर्बल्यम् अर्थविप्रकर्षात्' अर्थात् यहाँ भी पूर्ववत् वाक्य की अपेक्षा प्रकरण 'पर' होने से दुर्बल होता है। प्रकरण से श्रुति तक व्यवधान है। भाव यह है कि—'अग्निषोमौ इदं हविः' इत्यादि मन्त्र में अग्निषोमपद रहित 'इदं हविः' इत्यादि पदों का इन्द्राग्नि पदों के साथ अन्वय श्रवण नहीं है अतः' प्रकरण प्रमाण से प्रथमतः दोनों के अन्वयरूप वाक्य की कल्पना करनी होगी उस वाक्य से 'इन्द्राग्नी' प्रकाशन रूप सामर्थ्य की कल्पना भी आवश्यक है। पुनश्च उस 'लिङ्ग' द्वारा 'इन्द्राग्नि' अर्थात् देवताओं से सम्बन्धित कोई (श्रुति की कल्पना 'अनेन मन्त्रभागेनेन्द्राग्निविषया काचित्क्रियानुष्ठेया) क्रिया करनी चाहिये। तदनन्तर विनियोग होगा। इस तरह प्रकरण प्रमाण एवं विनियोग के मध्य वाक्य, लिंग एवं श्रुति का व्यवधान है परन्तु वाक्य एवं विनियोग के मध्य लिंग एवं श्रुति दो का ही व्यवधान है। अतः प्रकरण से वाक्य बलवान् है अतः 'अग्नीषोमाविदं हविः' यह मन्त्र पूर्णमास का अङ्ग होता है और 'इन्द्राग्नी इदं हविः' इत्यादि मन्त्र दर्श का अंग होता है।

(२१) उभयाकाङ्क्षा प्रकरणम्, यथा प्रयाजादिषु 'समिधो यजती'त्यादिनाक्ये फलविशेषस्यानिर्देशात्समिद्यागेन भावयेदिति बोधानन्तरं किमित्युपकार्याकाङ्क्षा। दर्शपूर्णमासवाक्येपि 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावये'दिति बोधानन्तरं कथमित्युपकारकाकाङ्क्षा। इत्थं चोभयाकाङ्क्षया प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्त्वम्।

तच्च प्रकरणं द्विविधम्। महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणं चेति।

अर्थ :- उपकारक एवं उपकार्य दोनों की परस्पर अपेक्षा 'प्रकरण' है। जैसे प्रयाजादि में 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों में फलविशेष का उल्लेख न होने से 'समिध् नामक याग से भावना करे' इस अर्थ का बोध होने के पश्चात् 'किसको' (भावित करें) इस प्रकार की उपकार्य की आकांक्षा होती है। इसी प्रकार दर्शपूर्णमास के प्रसंग में पठित वाक्य में भी दर्श एवं पूर्णमास से स्वयं की भावना करे, बीच होने के पश्चात् 'केसे' करें। इस प्रकार के उपकारक की आकांक्षा होती है। इस प्रकार से दोनों ओर की सापेक्षता के कारण प्रयाज आदि दर्शपूर्णमास के अङ्ग सिद्ध होते हैं।

वह प्रकरण दो प्रकार का है—१. महाप्रकरण तथा २. अवान्तरप्रकरण।

विशेष :- प्रकरण प्रमाण के इस प्रसंग में 'उभय' का अर्थ 'अङ्ग' और 'अङ्गी' है। इससे यह स्पष्ट है कि अङ्ग और अङ्गी की परस्पर आकांक्षा होने पर ही 'प्रकरण' होगा।

प्रकरण का लक्षण है—'उभयाकाङ्क्षा प्रकरण्'। इसके अन्य भी लक्षण यत्र तत्र उपलब्ध होते हैं यथा—''अङ्गप्रधानोभयवाक्यता आकाङ्क्षा प्रकरणम्' 'वाक्यैव—वाक्यता प्रकरणम्, 'अङ्गवाक्यतासापेक्षं प्रधानवाक्यं प्रकरणम्' 'कर्त्तव्यस्य इति कर्त्तव्याकाङ्क्षस्य वचनं प्रकरणम्।' संक्षेपतः दो वाक्यों की परस्पर आकांक्षा को प्रकरण कहा जा सकता है। किसी वाक्य कें क्रिया के सम्पादन का विधान मिलता है और तद्भिन्न वाक्य में फल का विधान प्राप्त होता है। पहले प्रकार के वाक्यों में 'किं भावयेत्? की आकांक्षा है और दूसरे प्रकार के वाक्यों में 'कर्म भावयेत् ?' की। इस प्रक्रिया को दष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं। 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्यादि प्रयाजादि वाक्य केवल क्रिया का विधान करते हैं। इनमें फल का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। अतः फलाकांक्षा होने पर 'किं भावयेत् ? किसका सम्पादन करे ? यह प्रश्न उठता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत्' यह दूसरा वाक्य है जिसका अर्थ है 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग भावयेत्' अर्थात् 'दर्श' एवं 'पूर्णमास' यागों से स्वर्ग की भावना करें। परन्तु स्वर्गादिरूप फल विधान होने पर भी क्रिया का विधान नहीं है अतः आकांक्षा होती है—कथं स्वर्ग भावयेत् ? इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों वाक्य परस्पर साकांक्ष हैं। अतः परस्पराकांक्षा रूप प्रकरण प्रमाण से प्रयाजादि अङ्ग है और स्वर्गादिरूप उत्कृष्ट फल का विधायक होने के कारण दर्शपूर्णमास अङ्गी है। अङ्गाङ्गिभाव एक दूसरे के बिना सम्भव नहीं है अतः प्रकरण का लक्षण इसमें सर्वथा घटित होता है।

प्रकरण में दो प्रकारों का उल्लेख लौगाक्षिभास्कर ने किया है। वे प्रकार हैं – महाप्रकरण और अवान्तरप्रकरण। इनका स्वरूप आगे कहा गया है।

(२२) तत्र मुख्यभावनासंबन्धिप्रकरणं महाप्रकरणम्। तेन च प्रयाजादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्वम्। एतच्च प्रकृतावेव उभयकाङ्क्षायाः संभावान्न नतु विकृतौ। तत्र 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्ये त्यतिदेशेन कथंभावाकाङ्क्षाया उपशमेनापूर्वाङ्गाना-मप्युभयाकाङ्क्षया विनियोगासंभवात्। तस्मादपूर्वाङ्गानां स्थानादेव विकृत्यर्थमिति।

अर्थ :- इन दोनों में मुख्य भावना से सम्बन्धित प्रकरण महाप्रकरण है। इसी से प्रयाज आदि की दर्शपूर्णमास की अङ्गता सिद्ध होती है। यह महाप्रकरण प्रकृतियागों में ही होता है क्योंकि उभयकांक्षा वहीं संभव है न कि विकृतियागों में। वहाँ तो 'प्रकृति के सदश ही विकृति भी करनी चाहिये' इस अतिदेश से ही कथंभावाकांक्षा की शान्ति हो जाने से अपूर्व प्रकृति में अप्राप्त अङ्गों–का भी उभयाकांक्षा से विनियोग नहीं हो सकता। अतः प्रकरण का अभाव होने से अपूर्वाङ्गों की–प्रकृति में अप्राप्त अङ्गों की–स्थान–प्रमाण से ही विकृति के लिये उपयोगिता सिद्ध होती है।

विशेष :- प्रकरण के दोनों प्रकारों का उल्लेख पीछे करने के बाद यहाँ 'महाप्रकरण' का स्वरूप बताया गया है। महाप्रकरण की संभावना प्रकृतियागों में ही होती है, क्योंकि वही फलभावना का निर्देश होता है।

मीमांसक के मत में स्वर्ग रूप फल ही मुख्य होता है अतः 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' में स्वर्ग को मुख्यभावना या फल भावना से अभिहित किया जाता है। महाप्रकरण का सम्बन्ध मुख्य भावना से होता है। 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामों यजेत' (दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गं भावयेत्) एवं 'समिधो यजति' समिद्यागेन भावयेत्, दोनों ही वाक्यों से भावना का बोध होता है परन्तु 'स्वर्गं भावयेत्' में स्वर्गादि की उत्कृष्टता से इसे मुख्य भावना का प्रतिपादक माना जाता है। 'समिधो यजति' आदि से अंग भावना का बोध होता है क्योंकि प्रयाजादि अंगों का विधान इनके द्वारा होता है अतः अङ्गाभिङ्भाव या मुख्य प्रधान भाव का निर्णय महाप्रकरण द्वारा होता है।

वाक्य का अर्थ है–जहाँ अङ्ग और अङ्गी दोनों का साक्षात् कथन होता है वहीं उभयाकांक्षा भी सम्भव है। यदि एक में भी आकांक्षा का अभाव हुआ तो प्रकरण सम्भव नहीं होगा। विकृतियागों में अङ्गों का साक्षात् कथन नहीं होता अपितु 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या' इस अतिदेश वाक्य से ही उसकी प्राप्ति हो जाती है।

(२३) अङ्भावनासंबन्धिप्रकरणमवान्तरप्रकरणम्। तेन चाभिक्रमणादीनां प्रयाजाद्यङ्गत्वम्। तच्च संदेशेनैव ज्ञयते। तदभावे चाविशेषात्सर्वेषां फलभावनाकथभावेन ग्रहणप्रसङ्गेन प्रधानाङ्त्वापत्तेः।

अर्थ :- अङ्भावना से सम्बद्ध प्रकरण अवान्तर–प्रकरण है। इसी अवान्तर प्रकरण से ही अभिक्रमण आदि की प्रयाज आदि की अङ्गता का ज्ञान होता है। यह अङ्गता सन्दंश से ही ज्ञात होती है। उसके रहने पर तो प्रकरण के भेदों में कोई अन्तर न रहने से प्रयाज आदि महाप्रकरण तथा अभिक्रमण आदि अवान्तरप्रकरण सभी का फलभावना की इतिकर्त्तव्यता के रूप में ग्रहण होने लगेगा। और उसमें समान रूप से प्रधान की अङ्गता सिद्ध होने लगेगी।

विशेष :- अङ्भावना से सम्बन्धित प्रकरण को अवान्तरप्रकरण कहा गया है। 'प्रयाजाः कर्त्तव्याः' वाक्य से 'समिधो यजति' आदि पाँच प्रकार के याग का विधान है ये सभी याग प्रधानभूतदर्शपूर्णमास के अङ्ग हैं क्योंकि अङ्गभावन में 'कथंभावाकांक्षा' निहित है–प्रयाजैः कर्म भावयेत् ? इस सन्दर्भ में अभिक्रमणादि क्रिया का भी विधान मिलता है। 'अभिक्रमेण किं भावयेत्' आदि वाक्य 'फलाकाङ्क्षा' से युक्त है। अतः दोनों वाक्य परस्पर साकाङ्क्ष हुए। प्रकरण के माध्यम से ही अभिक्रमणादि प्रयाजादि के अङ्ग सिद्ध होते हैं अतएव 'अभिक्रमणोपकृतैः प्रयाजैभार्वयेत् वाक्यार्थ बोध होने से अभिक्रमणादि की 'कथंभावाकांक्षा' पूरी होती है। फलाकांक्षा की पूर्ति 'अभिक्रमेण प्रयाजीपकारं भावयेत्' इस तरह के वाक्या बोध से होगी। प्रस्तुत प्रसंग में अंगभावना के रूप में अभिक्रमणादि का प्रयाजादि से सम्बन्धित बताया गया है अतः यह 'अवान्तर प्रकरण' के अन्तर्गत परिगणित होगा।

अब शंका यह होती है कि अभिक्रमणादि का प्रयाजाङ्गत्व कैसे जाना जाता है ? इसका समाधान ग्रन्थकार ने दिया है–तच्च सैदंशेनैव ज्ञायते।

इससे पूर्व यह निश्चय किया गया कि अवान्तर प्रकरण का सम्बन्ध अंगभावना से है परन्तु अभिक्रमण को संदंश पठित (दो के मध्य पठित) समझने के लिये यह जानना आवश्यक है कि अभिक्रमण का पाठ प्रजायादि यागों में विदित अन्य क्रियाओं अर्थात् घतानयन एवं मिथुनवेदन के मध्य किया गया है। अतः ये क्रियाएं भी प्रयाजादि का अङ्भूत हैं। इस प्रकार अभिक्रमण का अंगत्व संदश से ही विदित होता है। भाव यह है कि –जैसे अवान्तर प्रकरण की विनियोजन न मानने पर दर्शपूर्णमास याग

की फल भावना को 'कथंभावाकांक्षा' होने पर प्रयाजादि का सम्बन्ध हो जाता है उसी प्रकार प्रयाज के मध्य गठित अभिक्रमणादि का सम्बन्ध स्वतन्त्र रूप से प्रधान याग से होगा और तब अभिक्रमणादि प्रयाज के अंग नहीं होंगे।

(२४) **एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोरङ्गयोरन्तराले विहितत्वै संदंशः। यथाभिक्रमणे। तद्वि 'समानयते जुह्वाम् उपभतस्तेजो वा' इत्यादिना प्रयाजानुवादेन किचिदङ्गं विधाय विधीयते-'यस्यैवंविदुषः प्रयाजा इज्यन्ते प्रैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातव्यान्तुदत ेभिक्राभं जुहोत्यभिजित्यै' इति, तदनन्तरं 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं तदङ्गम्। प्रयाजैरपूर्वं कृत्वा यागोपकारं भावयेदिति ज्ञाते कथमेभिरपूर्वं कर्तव्यमिति कथंभावाकाङ्क्षायाः सत्त्वात्। सा च संदंशपठितैरभिक्रमणादिभिः शाम्यति।**

न चाङ्गभावनायाः कथंभावाकाङ्क्षाभावः, भावनासामान्येन तत्रापि तत्संभावत्।

अर्थ :- किसी भी एक अङ्ग का अनुवाद करते समय उससे सम्बद्ध दो अङ्गविधियों के बीच में किये जा रहे विधान को संदंश कहते हैं। जैसा कि अभिक्रमण में है । उस अभिक्रमण का प्रसंग इस प्रकार है। 'जुहू' में 'उपभत्' से घत लाता है' इत्यादि वाक्य से प्रयाज का अनुवाद करके उसके किसी अङ्ग का विधान किया जाता है। इसके बाद 'जिस विद्वान् के इस प्रकार से प्रयाजों का यजन होता है वह इन लोकों से शत्रुओं को नष्ट करता है। विजय के लिये अभिक्रमण का अनुष्ठान करता है। इसका विधान होता है। इसके भी बाद में 'जो प्रयाजो के मिथुन को जानता है' इत्यादि मन्त्र से किसी अङ्ग का विधान होता है। इसलिये प्रयाज के दोनों अङ्गों के बीच में पठित अभिक्रमण उस प्रयाज का अङ्ग है। 'प्रयाजों से अपूर्व उत्पन्न करके याग का उपकार करना चाहिये' इतना ज्ञात होने पर इन प्रयाजों से अपूर्व कैसे उत्पन्न करना चाहिये' इस प्रकार की कथंभावाकांक्षा उपस्थित होती है। यह कथंभावाकांक्षा सन्दंश में पठित अभिक्रमण आदि से शान्त होती है। यह बात नहीं है कि अङ्गभावना को कथंभावकांक्षा का अभाव है, क्योंकि भावनासामान्य में कथंभावाकांक्षा होने से वहाँ भी उसकी संभावना है।

विशेष :- अवान्तर प्रकरण के निरूपण के समय ग्रन्थाकर ने 'संदश' का संकेत मात्र किया है उसके स्वरूप पर वहा विचार प्रसंग प्राप्त न होने से प्रस्तुत अवतरण में सोदाहरण प्रतिपादन किया जा रहा है। संदंश का लक्षण–'एकाङ्गानुवादेन विधीयमानयोः अङ्गयोः अन्तराले विहितत्वम्' अर्थात् एक अङ्ग का अनुवाद करते समय दो अङ्गविधियों के बीच में किये जा रहे विधान को संदंश कहते हैं।

'प्रजाया' कर्त्तव्याः' इस विधायक वाक्य से 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं वजति' पच प्रयाज माने जाते हैं। याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार जुहू नामक पात्र विशेष से समिद्याग, तनूनपाद्याग एवं इड् याग में घत की आहुतियां दी जाती हैं। बर्हियाग एवं स्वाहाकार याग में उपभत् नामक पात्र विशेष से 'जुहू' में घतानयन होता है। हमें इसका विधान 'समानयते (आज्यम् जुह्वामुपभतः'–इत्यादि वाक्य से मिलता है। इस विधान के अनन्तर 'यस्यैवं विदुषः...अभिजित्यै' वाक्य द्वारा अभिक्रमण संशक क्रिया विहित है। अभिक्रमण क्रिया के विधान के पश्चात् 'यो वै प्रयाजानां मिथुनं वेद' इस वाक्य से 'मिथुनवेदन' का प्रसंग निरूपित है। इस प्रकार याज्ञिकी क्रिया की दष्टि से क्रमशः (१) घतानयन, (२) अभिक्रमण एवं (३) मिथुनवेदन का विधान है। इससे पूर्व यह कहा गया है कि घतानयन बर्हियाग एवं स्वाहाकार याग नामक प्रयाज के निमित्त है अतः यह 'प्रयाजाङ्ग' असन्दिग्ध रूप से है। 'मिथुनवेदन' का स्वरूप अर्थवाद की तरह प्रतीत होता है तथापि वह प्रयाजाङ्ग ही है। 'अभिक्रमण' इन दोनों के मध्य पठित है अतः संदंश न्याय की आवश्यकता है। संदश न्याय की सहायता से ही अभिक्रमण' को प्रयाज का अंग माना जाता है।

यहाँ एक शंका यह है कि–अङ्ग भावना में कथंभावाकाक्षा का उदय नहीं हो सकता ? तात्पर्य यह है कि अङ्ग भावना चूंकि अपनी प्रधान भावना की कथंभावाकांक्षा की पूर्ति करता है, अतः स्वयं आकांक्षाशून्य होगी। परन्तु यह तर्क उचित नहीं है क्योंकि सामान्य सिद्धान्त के अनुसार भावना कथंभावाकांक्षायुक्त रहती है अतः अंगभावना या प्रधानभावना का पार्थक्य प्रदर्शित करना समीचीन नहीं है। इस प्रकार प्रयाजादि में कथंभावाकांक्षा की स्वीकृति ठीक है।

(२५) **तदिदं प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकं द्रव्यगुणयोस्तु तद् द्वारा। तथाहि-'यजेत स्वर्गकाम' इत्यत्र फलभावनायां कथंभावाकाङ्क्षायां संनिधिपठिताश्रूयमाणफलकं क्रियाजातमुपकार्याकाङ्क्षयेतिकर्तव्यतात्वेनन्वेति। क्रियाया एव लोके कथंभावाकाङ्क्षायामन्वयदर्शनात्। न हि हस्तेन कुठारेण छिन्द्यादित्यत्र कथंभावाकाङ्क्षायामुच्चार्यमाणोपि हस्तोन्वेति किंतु हस्तेनोद्यम्य निपात्येति उद्यमननिपातने एव, हस्तश्च तद्द्वारैवान्वेतीति सर्वजनीनमेतत्।**

अर्थ :- वह प्रकरण क्रिया की ही साक्षात् रूप से अङ्गता का ज्ञापक होता है, द्रव्य एवं गुण की अङ्गता का ज्ञापक उस क्रिया के माध्यम से ही होता है। जैसे–'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में स्वर्गरूप फल की भावना में कथंभावाकांक्षा होने पर पास में ही पठित और न सुने जा रहे फल वाला क्रियासमूह उपकार्य–प्रधान–की आकांक्षा से इतिकर्त्तव्यता के रूप में अन्वित

हो जाता है। क्योंकि लोक में देखा जाता है कि कथंभावाकांक्षा होने पर क्रिया का ही अन्वय होता है। 'कुठार से काटना चाहिये' इस वाक्य में कथंभावाकांक्षा होने पर भी हस्त का अन्वय नहीं होता है, अपितु 'हाथ से उठाकर गिराकर' इस प्रकार उठाना और गिराना ही अन्वित होता है। हाथ तो उस उद्यमन आदि क्रिया के माध्यम से ही छेदन रूप क्रिया से अन्वित होता है, यह सभी लोगों को ज्ञात है।

विशेष :- महाप्रकरण एवं अवान्तरप्रकरण से अङ्गाङ्गिभाव या शेषशेषिभाव का ज्ञान होता है, यह इससे पूर्व कहा जा चुका है। किन्तु प्रकरण प्रमाण का श्रुतिलिङ्ग आदि प्रमाणों से कुछ मौलिक भेद हैं। इस भेद को स्पष्ट करने हेतु ग्रन्थकार ने कहा है—'प्रकरणं क्रियाया एव साक्षाद्विनियोजकम्'।

श्रुति प्रमाण द्वारा व्रीहिरूप द्रव्य का आरुण्य रूप गुण का, प्रोक्षणरूप क्रिया का 'इमामगभ्णन्' आदि मंत्र का एवं एकत्व, पुस्त्वं आदि का विनियोग होता है। लिङ्गप्रमाण द्वारा केवल मन्त्रों का विनियोग जाना जा सकता है यथा—'बर्हिर्देवसदनं दामि या 'स्योनं ते सदनं कृणोमि'। वाक्य द्वारा जातिरूप अङ्ग का विनियोग मिलता है। यथा—'यस्य पर्णमपी जुहूर्भवति' में पर्णता का विधान है। इन तीनों प्रमाण से भिन्न प्रकरण प्रमाण केवल क्रिया का विनियोजक होता है। वस्तुतः यह क्रिया का विनियोनक साक्षात् रूप से होता है द्रव्यगुणादि का परम्परया। आशय यह है कि 'यजेत स्वर्गकामः' इस महाप्रकरणगत वाक्य में कथंभावाकांक्षा है जिससे मुखभावना या फलभावना तक पहुंचा जा सके। इस वाक्य के समीप में प्रयाजादि यागों का समुद्र भी पठित है जिनमें केवल क्रिया समूह (क्रियाजातम्) का ही विधान है, फल की कोई चर्चा नहीं है अतः इन्हें (प्रयाजादि) को 'अश्रूयमाणफलक' कहा गया है अतः इनमें कथंभावाकांक्षा का अभाव होते हुये भी फलाकांक्षा है।

"हस्तेन कुठारेण छिन्द्यात्' इस लौकिक उदाहरण से भी यही स्पष्ट होता है कि इतिकर्तव्यता के रूप में क्रिया का ही विनियोग होता है द्रव्य का नहीं। क्योंकि हाथ स्वयं कुठार से काष्ठ काटने में समर्थ नहीं होता अपितु वह कुठार को उठाने और गिराने की क्रिया द्वारा ही छेदन करने में समर्थ हो पाता है अतः वहां उद्यमन और निपातन क्रियायें ही प्रमुख हैं जिनका कटाई से सम्बन्ध है। हाथ तो इन क्रियाओं द्वारा उसका सहयोगी मात्र होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रकरण प्रमाण से क्रिया का ही साक्षात विनियोजन होता है।

(२६) इदं च स्थानादिभ्यो बलवत्। अत एवाक्षैर्दीव्यति राजन्यं जिनातीति देवनादयो धर्मा अभिषेचनीयसंनिधौ पठिता अपि स्थानान्न तदङ्गं, किंतु प्रकरणाद्राजसूयाङ्गमिति।

अर्थ :- यह प्रकरण स्थानादि प्रमाणों से प्रबल है। इसीलिये 'अक्षैर्दीव्यति'—पांसों से जुआ खेलता है—, 'राजन्यं जिनाति'—'क्षत्रिय को जीतता है—, ये द्यूत आदि धर्म अभिषेचनीय के समीप में पठित होने पर भी स्थानप्रमाण से उसके—अभिषेचनीय के—अङ्ग नहीं हो सके अपितु प्रकरणप्रमाण के कारण राजसूय के अङ्ग हुये।

विशेष :- एकत्र पठित होना स्थान प्रमाण तथा उभयाकांक्षा प्रकरण प्रमाण है। इन दोनों में प्रबलता किसकी है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए इस प्रसंग में वैदिक उदाहरण द्वारा 'प्रकरण' को स्थानादि से प्रबल सिद्ध किया है।

'राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत' इस विधिवाक्य से 'राजसूययाग' का विधान है। इस याग में 'पशुयाग', 'इष्टियाग' एवं 'सोमयागादि विविध प्रधान कर्मों का उल्लेख मिलता है। इनमें एक 'अभषेचनीय' याग है जिसकी सन्निधि में 'अक्षैर्दीव्यति' 'राजन्यं जिनाति' आदि अङ्गकर्मों का उपदेश है। संशय यह होता है कि क्या ये अक्षक्रीड़ा (=देवन) आदि कर्म स्थान सन्निधि) के अनुसार अभिषेचनीय याग के अंग हैं अथवा प्रकरण के अनुसार याग के अंग हैं ? पूर्वपक्ष का मन्तव्य है कि वे कर्म अभिपेचनीय याग के समीप में पठित हैं अतः उस याग के ही अंग हैं, राजसूय के नहीं। यदि कहा जाये कि सन्निधिमात्र ही अन्वय में हेतु नहीं होती अतः यह कहना ठीक नहीं है कि सन्निधि के कारण उक्त कर्म अभिषेचनीय याग के अंग है तो यह भी सत्य नहीं है। यदि मान लिया जाये कि प्रकरण की आकांक्षा होने से उक्त कर्म प्रकरणवश राजसूय याग के भी अंग माने जा सकते हैं तब आकांक्षा एवं सन्निधि का कोई विनिगमक न होने से दोनों ही समान रूप से अपेक्षित हैं। अतः तुल्यबल होने से उक्त कर्म प्रकरण के अनुसार राजसूयबाग के अंग हैं और सन्निविवश अभिषेचनीय याग के भी। परन्तु सिद्धान्ती इन तर्कों को संगत नहीं मानता। सिद्धान्त पक्ष का मत है कि स्थान अब श्रुति की कल्पना करता है तो उसे प्रकरण, वाक्य, लिंग की कल्पना करके ही श्रुति को कल्पना करनी पड़ती है इसलिए स्थान विलम्ब से उपस्थित होकर विषय के अंगस्व का बोध कराता है परन्तु प्रकरण श्रुति के समीप होने के कारण शीघ्र उपस्थित होकर विषय के अंगत्व का बोध कराता है। अतः स्थान की अपेक्षा प्रकरण प्रबल है।

(२७) देशसामान्यं स्थानम्। तद्द्विविधम्-पाठसादेश्यमनुष्ठानसादेश्यं चेति। स्थानं क्रमश्चेत्यनर्थान्तरम्। पाठसादेश्यमपि द्विविधम्-यथासङ्ख्यपाठः संनिधिपाठश्चेति।

अर्थ :- समानदेशता स्थानप्रमाण है। वह स्थान दो प्रकार का है–पाठसादेश्य और अनुष्ठानसादेश्य। स्थान और क्रम भिन्न अर्थ नहीं हैं अर्थात् स्थान और क्रम दोनों का एक ही अर्थ है। पाठसादेश्य भी दो प्रकार का है–यथासंख्यपाठ और संनिधिपाठ।

विशेष :- श्रुति, लिंग, वाक्य एवं प्रकरण नामक प्रमाणों का विवेचन करके ग्रन्थकार 'स्थान प्रमाण का' का प्रतिपादन कर रहे हैं। स्थान की समानता की 'स्थान' प्रमाण कहा गया है। स्थान का अर्थ 'क्रम' भी स्वीकार किया गया है अतः जो विनियोग क्रमानुसारी होगा उसे स्थानप्रमाणगम्य मानना चाहिये। वह स्थान पाठसादेश्य और अनुष्ठानसादेश्य भेद से दो प्रकार का होता है पुनः यथासंख्य पाठ और संनिधिपाठ के रूप में पाठसादेश्य के भी दो भेद होते हैं।

(२८) **तत्र 'ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्'। वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेति'त्येवं क्रमविहितेषु 'इन्द्राग्नी रोचना दिव' इत्यादीनां याज्यानुवाक्यामन्त्राणां यथासंख्यं प्रथमस्य द्वितीयस्य द्वितीयमित्येवंरूपो विनियोगो यथासंख्यपाठात्। प्रथमपठितमन्त्रस्य हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां प्रथमतो विहितं कर्मैव प्रथमुपतिष्ठते समानदेशत्वात्। एवं द्वितीयमन्त्रस्यापि। वैकृताङ्गानां प्राकृताङ्गानुवादेन विहितानां संदंशपतितानां विकृत्यर्थत्वं संनिधिपाठात् यथा आमनहोमानाम्। तेषां हि कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलं विकृत्यपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते, उपस्थितत्वात्, स्वतन्त्रफलकत्वे विकृतिसंनिधिपाठानर्थक्यापत्तेः।**

अर्थ :- उन पाठसादेश्य के दोनों भेदों में 'ऐन्द्राग्नम् एकादशकपालं निर्वपेत्'–इन्द्र और अग्नि के लिये ग्यारह कपालों में निर्वपन करे–'वैश्वानरं' द्वादशकपालं निर्वपेत्'–वैश्वानर के लिये बारह कपालों में निर्वपन करे–इस प्रकार के क्रम से अभीष्ट कर्मों में 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' इत्यादि याज्यानुवाक्या मन्त्रों का जो संख्या के अनुसार प्रथम का प्रथम के साथ और द्वितीय का द्वितीय के साथ इस प्रकार का विनियोग है वह यथासंख्यपाठ से है। प्रथम पठित मन्त्र के साध्य–कैमर्थ्य–की आकांक्षा होने पर प्रथमतः निर्दिष्ट कर्म ही सर्वप्रथम उपस्थित होता है, क्योंकि उनमें सादेश्य होता है। इसी प्रकार से द्वितीय मन्त्र का भी प्रकृतियागों के अङ्गों के अनुवाद के रूप में कथित और विकृतियागों के सन्दंशपतित अङ्ग संनिधिपाठ से विकृति के अङ्ग होते हैं, जैसे कि आमनहोम। उन वैकृताङ्गों के साध्य की आकांक्षा होने पर फलरूप में विकृति का अपूर्व ही भाव्य रूप से सम्बद्ध होता है, क्योंकि वही निकट में उपस्थित होता है, संदंशपतित अङ्गों का विकृतयाग से अलग साध्य मानने पर उनका विकृतियाग की सन्निधि में पाठ व्यर्थ सिद्ध होने लगेगा।

विशेष :- इस प्रकरण में पाठसादेश्य के दोनों भेदों यथासंख्यपाठ तथा संनिधिपाठ का सोदाहरण निरूपण हुआ है। यथासंख्यपाठ–"ऐन्द्रानम् एकादश कपालं निर्वपेत्" तथा "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्" ये दोनों मन्त्र मैत्रायणी संहिता के हैं और अनुक्रम में पठित हैं। जिस प्रकार ये मन्त्र पठित हैं उसी प्रकार मैत्रायणी संहिता में ही क्रमशः 'इन्द्राग्नी रोचना दिवः' तथा 'वैश्वानरोजीजनत्' इन यज्यानुवाक्या मन्त्रों के जोड़े हैं अतः दोनों स्थानों पर पाठसादेश्य हैं। जब 'इन्द्रानीरोचना दिवः' तथा 'वैश्वानरोजीजनत्' मन्त्रों के साध्य का प्रश्न होगा तब प्रथम को प्रथम तथा द्वितीय तो द्वितीय इस यथासंख्य पाठ के बल से क्रमशः 'एन्द्राग्न०:' तथा 'वैश्वानरं०' मन्त्र उपस्थित होंगे।

उपरि निर्दिष्ट उदाहरण में यथासंख्या पाठ से यह ज्ञात होता है कि प्रथम मन्त्र प्रथम विधि बोध्य क्रिया का अंग है एवं द्वितीय मन्त्र द्वितीय विधि बोध्य क्रिया का अंग है।

सन्निधि पाठ–'वैश्वदेवीं सांग्रहर्णीं निर्वपेद् ग्रामकामः' विधिवाक्य 'संग्रहणी नामक विकृतियाग का विधान करता है। इसका प्रकृतियाग 'दर्शपूर्णमास' है। सांग्रहणीयाग' के सन्निकट ही 'आमनम् अस्य आमनस्य देवा इति तिस्र आहुतीर्जुहोति' यह वाक्य पठित है जिसके द्वारा तीन आमन होमों का विधान है। इन आमन होमों से कोई फल विशेष निर्दिष्ट नहीं है अतः स्वभावतः इनमें 'फलाकांक्षा' है। इस प्रकार सन्निधि पाठ के बल पर 'आमन होम' सांग्रहणी याग का अंग हो जाती है। सांग्रहणीयाग 'अतिदेश वाक्य' प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या' से समस्त प्राकृताङ्ग को प्राप्त करती है। अतः सन्निधि पाठ से आमन होम विकृति सांग्रहणी के अंग माने गये।

(२६) **पशुधर्माणामग्नीषोमीयार्थत्वमनुष्ठानसादेश्यात्। औपवसथ्येह्नि अग्नीषोमीयः पशुरनुष्ठीयते तस्मिन्नेव दिने ते धर्माः पठ्यन्ते। अतस्तेषां कैमर्थ्याकाङ्क्षायामानुष्ठेयत्वेनोपस्थितं पश्वपूर्वमेव भाव्यत्वेन संबध्यते।**

अर्थ :- पशुधर्मो की अग्नीषोमीय की अङ्गता अनुष्ठानसादेश्य के कारण है। औपवसथ्य के दिन अग्नीषोमीय पशु का अनुष्ठान होता है और उसी दिन वे धर्म भी पढ़े जाते हैं। अतः उन पशुधर्मों की फलाकांक्षा होने पर अनुष्ठेय रूप में उपस्थित पशु का अपूर्व ही साध्य के रूप में सम्बद्ध हो जाता है।

विशेष :- इस प्रकरण में अनुष्ठानसादेश्य का स्वरूप निरूपित हुआ है। अनुष्ठान–सादेश्य का अभिप्राय यह है कि

ज्योतिष्टोमादि याग में एक दिन में अनुष्ठित किये जाने वाले कर्मों से सम्बद्ध जितने भी सहायक कर्म हैं वे भी उसी दिन प्राप्त होते हैं। इस रूप में उनकी यह अङ्गता पाठ के कारण नहीं अनुष्ठान के कारण होती है।

ज्योतिष्टोम तीन दिनों में सम्पन्न होने वाला एक सोमयाग है। इन तीन दिनों को क्रमशः औपवसथ्य, सौत्य और अवभथ कहते हैं। औपवसथ्य दिन उपस्थित यज्ञीय पशु को अग्निषोमीय, सौत्य वाले को सवनीय तथ्यय अवभथ दिन वाले को अनुबन्ध्य कहा जाता है। प्रथम दिन उपस्थित होने वाले अग्निषोमीय पशु के उपाकरण, पर्यग्निकरण तथा यूप–नियोजन जैसे पशुधर्मों की सम्पन्नता भी अनुष्ठान सादेश्य से उसी दिन होती है।

(३०) तच्च स्थानं समाख्यातः प्रबलम्। अत एव शुन्धनमन्त्रः सांनाय्यपात्राङ्गं पाठसादेश्यात्, न तु पौरोडाशिकमिति समाख्यया पुरोडाशपात्राङ्गम्।

अर्थ :- वह स्थान प्रमाण समाख्या से प्रबल है। इसीलिए पाठसादेश्य के कारण शुन्धनमन्त्र सांनाय्यपात्र का अङ्ग है, न कि 'पौरोडाशिक' इस समाख्या से पुरोडाशपात्रों का अङ्ग।

विशेष :- अगले प्रकरण में 'समाख्या' का निरूपण हुआ है। यहाँ तो 'समाख्या' से स्थान प्रमाण की प्रबलता बताई गई है। उदाहरणार्थ पौरोडाशिक प्रकरण का उल्लेख हुआ है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत एक पौरोडाशिक काण्ड है जहाँ पुरोडाश के उपकारक कुछ विषयों का निर्देश है। वहाँ पर 'शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देवयज्यायै' मन्त्र सान्नाय पात्र के शुन्धन मन्त्र रूप में पठित है यहाँ संशय यह है कि उक्त मन्त्र का पौरोडाशिक समाख्या के अनुसार उलूखल, मुसल, जुहू, आदि द्रव्यों के संस्कार में विनियोग अथवा स्थान के अनुसार सान्नाय पात्र के शोधन में प्रयुक्त होगा ? पूर्वपक्ष का मत है कि उक्त मन्त्र पौरोडाशिक समाख्या के अनुसार उलूखल आदि द्रव्यों का संस्कारक है।

सिद्धान्त पक्ष का समाधान यह है कि–'पौरोडाशिक' पद में पुरोडाशस्येदं, इस विग्रह से प्रकृति का पुरोडाश एवं (ठक्) प्रत्यय का काण्ड अर्थ होता है किन्तु इस प्रकार से पुरोडाश पात्र की सन्निधि प्रत्यक्ष न होने से अर्थापत्ति द्वारा उसकी कल्पना की जायेगी। समस्या यह है कि पुरोडाश पात्र की सन्निधि प्रत्यक्षता न होने पर शुन्धन विषयक मन्त्र की 'पौरोडाशिक' समाख्या नहीं होगी। इस प्रकार समाख्या में सन्निधि कल्पित होगी, परन्तु प्रकरण बिना परिकल्पित काण्ड सन्निधि भी अनुपपन्न है। अतः परस्पर आकांक्षारूप सम्पूर्ण पुरोडाश पात्रप्रकरण की कल्पना करनी पड़ेगी। तदनन्तर लिङ्ग एवं श्रुति से विनियोग होगा इस प्रकार समाख्या विनियोग से अत्यन्त व्यवहित हो जाता है। परन्तु सान्नाय पात्रों का शुन्धन मन्त्र से सन्निधि प्रत्यक्ष सिद्ध है क्योंकि मन्त्र द्वारा 'कथं भावाकांक्षा' होने पर निकटस्थ सान्नायपात्र का भाग्य अपूर्व हो साध्यत्वेन अन्वित हो जाता है अतः 'समाख्या' विनियोग में विप्रकृष्ट है एवं स्थान सन्निकृष्ट।

(३१) समाख्या यौगिकः शब्दः। सा च द्विविधा-वैदिकी लौकिकी च। तत्र होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम्, होतचमस इति वैदिक्या समाख्यया। अध्वर्योस्तत्तत्पदार्थाङ्गत्वम्, लौकिक्या आध्वर्यवमिति समाख्ययेति संक्षेपः। तदेवं निरूपितानि संक्षेपतः श्रुत्यादीनि षट् प्रमाणानि।

अर्थ :- यौगिक शब्द समाख्या है। वह समाख्या दो प्रकार की है–वैदिकी और लौकिकी। इन दोनों में होता की चमसभक्षव की अंगता 'होतचमस' का इस वैदिकसमाख्या से सिद्ध होती है। अध्वर्यु की तत्तत्पदार्थों की अङ्गता 'आध्वर्यवम्' इस लौकिक समाख्या से होती है। यही समाख्या का संक्षेप है। इस प्रकार से श्रुति आदि छः प्रमाण संक्षेप में निरूपित हुए।

विशेष :- ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर प्रसंग प्राप्त 'समाख्या' का निरूपण कर रहे हैं। प्रदत्त लक्षण के अनुसार यौगिक शब्द को समाख्या कहते हैं। (समाख्या यौगिकः शब्दः)।

इनके दो भेद माने गये हैं–(१) वैदिकी (२) लौकिकी। वेद में पठित यौगिक शब्दों को वैदिकी समाख्या कहा जाता है। 'प्रतु होतुश्चमस', प्र ब्राह्मणः प्र उद्गातणाम्' इस प्रकार वैदिक वाक्य है। इसके अनुसार होता ब्रह्मा एवं उद्गाता के साथ 'चमस' नामक पात्र में सोमरस का पान करता है। 'होतुश्चमसः' से दो बातों का संकेत मिलता है –

(१) चमसभक्षणम्–चमसस्थितसोमपान।

(२) होतुश्चमसभक्षणाङ्गत्वम् अर्थात् सोमरस पान क्रिया होने के कारण 'प्रधान या अङ्गी' है एवं 'होता' उसका अङ्ग। 'भक्षणस्य क्रियात्मकत्वेन प्राधान्यात् तत्कर्तुः होतुः भवति तदङ्गत्वम्:')।

'चमसः' का अर्थ चम्–चमति, चम्नोति, चम्यते पीयते सोमः अत्र स्थितः इति चमसः। इस प्रकार 'होतुश्चमसः' वैदिकी समाख्या है क्योंकि इसका पाठ वेद में मिलता है। 'आध्वर्यवम्' लौकिकी समाख्या है। इसका अर्थ, 'अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म। अध्वर्यु

नामक ऋत्विक् का सम्बन्ध यजुर्वेद से है अतः 'आध्वर्यवम्' समाख्या से यह ज्ञान होता है कि 'अध्वर्यु' यजुर्वेद की सभी क्रियाओं का अङ्ग है।

(३२) एतत्सहकृतेन विनियोगविधिना समिदादिभिरुपकृत्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'त्येवंरूपेण यानि विनियोज्यन्ते तान्यङ्गानि द्विविधानि सिद्धरूपाणि क्रियारूपाणि चेति। तत्र सिद्धानि जातिद्रव्यसंख्यादीनि। यानि च दष्टार्थान्येव। क्रियारूपाणि व द्विविधानि-गुणकर्माणि प्रधानकर्माणि च। एतान्येव संनिपत्योपकारकाणि आरादुपकारकाणीति चोच्यन्ते।

अर्थ :- इनसे सहायता प्राप्त विनियोगविधि के द्वारा समित् आदि से उपकृत होकर 'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इस प्रकार के मन्त्रों से जिनका विनियोग होता है वे अङ्ग दो प्रकार के होते हैं–सिद्धरूप तथा क्रियारूप। इनमें सिद्धरूप है जाति, द्रव्य, संख्या आदि और ये दष्टप्रयोजन वाले हैं। क्रियारूप दो प्रकार के हैं–गुणकर्म तथा प्रधानकर्म, यही संनिपत्योपकारक तथा आरादुपकारक भी कहे जाते हैं।

विशेष :- दर्शपौर्णमास आदि प्रधान याग हैं। समिद् आदि इनके सहायक याग कहलाते हैं। इन सहायक यागों की प्राप्ति 'समिधो यजति' इत्यादि मन्त्रों से प्राप्त होती है। इनकी प्रधानता और गौणता विनियोग विधि द्वारा जानी जाती है।

विनियोगविधि द्वारा विनियोजित अंगों के दो भेद माने गये हैं–(१) सिद्धरूप एवं (२) क्रियारूप। प्रथम रूप अर्थात् सिद्ध रूप क्रिया की तरह उत्पाद्य या साध्य नहीं होता अतः इसके अंग रूप में जाति, द्रव्य एवं संख्या आदि भेद परिगणित हैं। इनका प्रयोजन भी प्रत्यक्ष (=दष्ट) है क्योंकि इनसे साध्य क्रियाओं का अनुष्ठान होता है।

क्रियारूप के दो भेद हैं–(१) गुणकर्म एवं (प्रधानकर्म)। गुणकर्म साक्षात् नहीं अपितु परम्परया प्रधान क्रिया का अंग होता है परन्तु प्रधानकर्म साक्षात् अंग होता है। गुणकर्म को ही 'सन्निपत्योपकारक' कहा जाता है क्योंकि ये किसी अङ्ग के माध्यम से मुख्य याग दर्शपूर्णमासादि के उपकारक होते हैं। परन्तु प्रधान कर्म या 'आरादुपकारक' साक्षात् रूप में प्रधान क्रिया दर्शपूर्णमासादि के उपकारक होते हैं।

(३३) कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन विधीयमानं कर्म संनिपत्योपकारकम्। यथावघातप्रोक्षणादि। तच्च दष्टार्थम् अदष्टार्थम् दष्टादष्टार्थं चेति। तत्र दष्टार्थमवघातादि, अदष्टार्थ प्रोक्षणादि, दष्टादष्टार्थं पशुपुरोडाशादि। तद्धि द्रव्यत्यागांशेनैव अदष्टं देवतोद्देशेन च देवतास्मरणं दष्टं करोति।

अर्थ :- होमकर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि को लक्ष्य करके सम्पन्न किये जाने वाले कर्म संनिपत्योपकारक हैं। जैसे अवघात्, प्रोक्षण आदि। यह कर्म दष्टार्थ, अदष्टा र्थ और दष्टादष्टार्थ है। इनमें अवघात आदि दष्टार्थ है, प्रोक्षण आदि अदष्टार्थ और पशु–पुरोडाश आदि दष्टादष्टार्थ है। यह पशुपुरोडाश आदि द्रव्यत्याग अंश में ही अदष्ट अर्थ करता है, देवता को लक्ष्य करने से देवतास्मरण रूप दष्ट प्रयोजन को सम्पन्न करता है।

विशेष :- होमकर्म के अङ्गभूत द्रव्य आदि गुणकर्म कहलाते हैं। गुणकर्म को ही संनिपत्योपकारक कहा जाता है। संनिपत्योपकारक इस समस्त पद में 'संनिपत्य' का अर्थ है–द्रव्य आदि के माध्यम से याग के स्वरूप का घटक होना। उपकारक का अर्थ है यागजन्य अपूर्व की उत्पत्ति में सहायक होना। इस प्रकार साक्षात् रूप में नहीं अपितु द्रव्य आदि के माध्यम से मुख्य याग के स्वरूप का घटक बनने वाले तथा उसके अपूर्व की निष्पत्ति में सहायक कर्म सन्निपत्योपकारक कर्म कहे जाते हैं।

सन्निपत्योपकारक कर्म के तीन भेद माने गये है (दष्टार्थक (२) अदष्टार्थक (३) एवं दष्टादष्टार्थक।

दर्शपूर्णमासयागरूपी कर्म का द्रव्यरूपी व्रीहि अंग है। इस व्रीहि के लिये अवघातादि क्रिया का विधान 'व्रीहीनवहन्ति' आदि वाक्यों से किया गया है। प्रोक्षणादि क्रियायें भी विहित हैं। अतः अवघात प्रोक्षणादि कर्म को 'कर्माङ्गद्रव्याद्युद्देशेन' विधीयमान' कहा जा सकता है। अतः निष्कर्ष रूप में यह गुणकर्म या सन्निपत्योपकारककर्म है। अवघात प्रोक्षादि गुणों का व्रीहि द्रव्य के आश्रित रहने से गुणकर्म कहना उचित ही है और ये सभी प्रधान याग 'दर्शपूर्णमास' के उपकारक हैं अतः इन्हें सन्निपत्योपकारक कहा गया है।

'व्रीहीन् अवहन्ति' वाक्य द्वारा अवघात का विधान है जो परम्परया प्रधान कर्म का उपकारक है चूँकि इससे 'तुषविमोकादि' प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने वाला कार्य सिद्ध होता है अतः इसे 'दष्टार्थक' कहा जाता है।

'व्रीहीन् प्रोक्षति' वाक्य से 'प्रोक्षण' क्रिया विहित है। प्रोक्षण यद्यपि इष्टरूप में व्रीहि पर कोई प्रभाव नहीं उत्पन्न करता तथापि अदष्टार्थ की कल्पना करना उचित है।

'पशुपुरोडाशादि याग' को दष्टादष् टार्थक का दष्टान्त माना गया है। जब देवता को उद्देश्य करके पशु या पुरोडाश का

त्याग किया जाता है तब 'इन्द्राय स्वाहा। इदमिन्द्राय। इदं न मम।' रूप से मन्त्र पढ़ा जाता है। यहाँ 'द्रव्यत्यागांश' अदष्टा र्थक है। लेकिन यह क्रिया 'देवतोद्देश' से की गई है। अतः इस अंग को 'दष्टार्थक' माना जाता है। इस प्रकार सन्निपत्योपकारक के सन्दर्भ में 'दष्टार्थक अदष्टार्थक' एवं 'दष्टादष्टार्थक' का विवेक हो सकता है।

(३४) द्रव्याद्यनुद्दिश्य केवलं विधीयमानं कर्म आरादुपकारकम्। यथा प्रयाजादि। आरादुपकारकं च परमापूर्वोत्पत्तावेवोपयुज्यते। संनिपत्योपकारक तु द्रव्यदेवतासंस्कारद्वारा यागस्वरूपेप्युपयुज्यते। इदमेव चाश्रयि कर्मेत्युच्यते। तदेवं निरूपितः संक्षेपतो विनियोगविधिः।

अर्थ :- द्रव्य आदि को लक्ष्य न करके केवल सम्पाद्यमान कर्म आरादुपकारक है, जैसे प्रयाज आदि। आरादुपकारक परम अपूर्व—फलापूर्व—की उत्पत्ति में ही प्रयुक्त होता है, जब कि संनिपत्योपकारक तो द्रव्य, देवता और संस्कार के द्वारा याग के स्वरूप में भी प्रयुक्त होता है यह संनिपत्योपकारक ही आश्रयकर्म भी कहा जाता है। तो इस प्रकार संक्षेप में विनियोगविधि का निरूपण हुआ।

विशेष :- यागसम्बन्धी द्रव्य या देवता का उद्देश्य न कर यों ही कर्म का जहाँ विधान हो उस कर्म की आरादुपकारक संज्ञा है। अर्थात् उत्पत्ति वाक्य में जिन द्रव्य व देवता को स्पर्श नहीं करते हुए केवल विधीयमान अंग आरादुपकारक है। 'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति' 'आज्यभागौ यजति' 'अनूयाजैर्यजते' आदि वाक्यों में समिद्याग से यागोपकार करना चाहिए, तनूनापाद्याग से यागोपकार करना चाहिए, ये ही श्रुत हैं यहाँ यागसंबन्धी द्रव्य या देवता का उल्लेख नहीं है, जैसे 'व्रीहीन् प्रोक्षति' 'व्रीहीनवहन्ति' 'तण्डुलान् पिनष्टि' में है। अतः सन्निपत्योपकारक एवं आरादुपकारक का भेद सिद्ध होता है। इतना ही नहीं, सन्निपत्योपकारक अंगों के अनुष्ठान से परमापूर्व या फलापूर्व की उत्पत्ति होती है। अर्थात् उत्पत्त्यपूर्व के उपकारक संनिपत्योपकारक अंग हैं, परमापूर्व के उपकारक आरादुपकारक हैं।

(३५) प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। स चाङ्गवाक्यैकवाक्यतापन्नः प्रधानविधिरेव। स हि साङ्गं प्रधानमनुष्ठापयन्विलम्बे प्रमाणाभावादविलम्बापरपर्यायं प्रयोगप्राशुभावं विधत्ते। न च तदविलम्बेपि प्रमाणाभाव इति वाच्यम्। विलम्बे हि अङ्गप्रधानविध्येकवाक्यतावगततत्साहित्यानुपपत्तिः। विलम्बेन क्रियमाणयोः पदार्थयोरिदमनेन सह कृतमिति साहित्यव्यवहाराभावात्। स चाविलम्बो नियते क्रमे आश्रीयमाणे भवति। अन्यथा हि किमेतदनन्तरमेतत्कर्तव्यमेतदनन्तरं वेति प्रयोगविक्षेपापत्तेः। अतः प्रयोगविधिरेव स्वविधेयप्रयोगप्राशुभावसिद्ध्यर्थ नियतं क्रममपि पदार्थविशेषणातया विधत्ते। अत एवाङ्गानां क्रमबोधको विधिः प्रयोगविधिरित्यपि लक्षणम्।

तत्र क्रमो नाम विततिविशेषः, पौर्वापर्यरूपो वा।

अर्थ :- प्रयोग अर्थात् कर्मसम्पादन में शीघ्रता के भाव की ज्ञापकविधि प्रयोगविधि है। वह अङ्ग वाक्यों के साथ एकवाक्यता को प्राप्त प्रधानविधि ही है। वह अङ्गसहित प्रधान का सम्पादन कराते हुए विलम्ब में प्रमाण का अभाव होने से 'अविलम्ब' इस दूसरे नाम वाले 'प्रयोगप्राशुभाव' का विधान करता है। यह नहीं कह सकते कि प्रयोग के अविलम्ब में भी प्रमाण का अभाव है, क्योंकि प्रयोग में विलम्ब मानने पर प्रयाज आदि अङ्ग और दर्श आदि प्रधान सें सम्बद्ध विधियों में एकवाक्यता का बोध होने से उनका एक साथ होना साहित्य संमत नहीं हो सकेगा। विलम्ब से किये जाने वाले दो पदार्थों में—'यह इसके साथ किया गया है' इस प्रकार का एक साथ होने का कथन नहीं किया जा सकता। और वह 'अविलम्ब' एक निश्चित क्रम का आश्रय लेने पर ही हो सकता है। नहीं तो 'इसको इसके बाद करना चाहिये अथवा उसके बाद में, इस प्रकार का विक्षेप अनुष्ठान में होने लगेगा। इसलिये प्रयोग विधि ही अपने अनुष्ठेयकर्मों में शीघ्रता के भाव की सिद्धि के लिये कर्म के विशेषण के रूप में निश्चित क्रम का भी विधान करती है। इसलिये 'अङ्गों के क्रम का बोध कराने वाली विधि प्रयोगविधि है, यह भी इसका लक्षण है।

वहाँ अर्थात् प्रयोगविधि के क्रमबोधक द्वितीय लक्षण में प्रयुक्त क्रम का अर्थ है—विस्तारवेशेष अथवा आगे—पीछे होना।

विशेष :- ग्रन्थकार लौगाक्षिभास्कर ने विधि का वर्गीकरण करते हुए क्रमशः उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि तथा प्रयोगविधि का उल्लेख किया है। विनियोग विधि के विवेचन के पश्चात् क्रम प्राप्त अधिकारविधि का विवेचन होना चाहिए था, किन्तु ऐसा न करके ग्रन्थकार क्रमभंग करते हुए विनियोग विधि का विवेचन किया हैं यह क्रमभंगता विचारणीय है। इस प्रसंग में डा० कामेश्वरनाथ मिश्र लिखते हैं "प्रतीत होता है विनियोग विधि के निरूपण से अंग और प्रधान वाक्यों का ज्ञान हो जाने से तत्काल प्रयोग में सुकरता रहती है, यही प्रदर्शित करना ग्रन्थकार का उद्देश्य है।

ग्रन्थकार ने प्रयोगविधि के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत करने के लिये प्रथमतः उसका लक्षण किया है—'प्रयोग

प्राशुभावबोधको विधिः प्रयोगविधिः। अर्थात् अनुष्ठान की शीघ्रता बोधक विधि को प्रयोगविधि कहते हैं। वस्तुतः उत्पत्तिविधि के लिये जिस प्रकार 'अग्निहोत्रं जुहोति' या विनियोगविधि स्वरूप बोधक 'दघ्ना जुहोति' आदि वाक्य उपलब्ध होते हैं उस प्रकार 'प्रयोगविधि' बोधक वाक्य नहीं है अतः उसका निरूपण प्रकारान्तर से ग्रन्थकार करता है। प्रयाजादि याग अंग है और 'दर्शपूर्णमास' प्रधान याग है। अब अंग वाक्यों का प्रधान वाक्य 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' से एकवाक्यता होने पर 'प्रयाजानुयाजादिभिरूपकृतवद्भ्यां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इस प्रकार का कल्पित वाक्य ही 'प्रयोगविधि' का परिचायक होता है। यदि अंगों का प्रधान के साथ 'साहित्य' का अभाव अर्थात् साथ–साथ अनुष्ठान का अभाव हो तो प्रधान द्वारा फलोत्पत्ति सम्भव नहीं होगी। यद्यपि विलम्ब से अनुष्ठान निषेधक वाक्य नहीं मिलता तथापि प्रयोगविधि द्वारा निर्दिष्ट साथ–साथ अनुष्ठान की प्रक्रिया ही विलम्ब से अनुष्ठान में बाधिका है। अविलम्ब से अनुष्ठान की सम्पन्नता में नियामक तत्व यह भी है कि 'प्रयाजादि अंग' एवं 'दर्शपूर्णमासादि प्रधान' को एकवाक्यता से ही दोनों की साथ–साथ अनुष्ठेयता का ज्ञान होता है। यह पहले कहा जा चुका है। यदि प्रयोग में विलम्ब होगा तो 'साहित्य' की उत्पत्ति नहीं होगी। इसके अलावा, 'साहित्य' अंग एवं प्रधान का अविलम्ब क्रम नियत रहने पर ही होता है। यथा पहले 'आग्नेय हविष्' का अभिघारण करना चाहिए तत्पश्चात् 'ऐन्द्रदधि हविष्' का अभिघारण करना चाहिये। इस प्रकार यदि क्रम नियत न हो तो प्रयोग के समय सन्देह उत्पन्न होगा। अतः प्रयोगविधि ही अनुष्ठानों की अविलम्ब सिद्धि के लिये नियत क्रम का विधान करती है अन्यथा अनुष्ठानों में विक्षेप उत्पन्न होता है। अतएव अर्थलोक में कहा गया है–'प्रयोगप्राशुभावं विदधत्प्रयोगविधिरेव नियतं क्रमममपि विधत्त इति प्रमाणाभावो नाशङ्कनीय इत्यर्थः।'

इस प्रसंग में यह संशय हो सकता है–प्रयोगविधि द्वारा अनुष्ठान की शीघ्रता भी विहित होती है और क्रम भी नियत होता है अतः वाक्यभेद नामक दोष होगा। परन्तु यह शंका उचित नहीं है क्योंकि स्वतन्त्रस्वरूप से यदि प्रयोगविधि द्वारा दोनों का विधान होता तब वाक्यभेद की स्थिति उत्पन्न होती। विशेष्यविशेषणरूप विभाग से वाक्यभेद नहीं होता अर्थात् क्रम की पदार्थ (क्रिया) का विशेषण मान लेने पर कोई दोष नहीं है। इस प्रकार प्रयोगविधि से क्रमविशिष्ट के विधान होने से 'अङ्गों के क्रमबोधक विधि को प्रयोगविधि कहते हैं' ऐसा लक्षणान्तर भी दिया जा सकता है। वह क्रम क्या है ? वितति अर्थात् विस्तारविशेष ही क्रम है।

यागादि अनुष्ठान के समय कई प्रकार के कार्य यजमान को करने पड़ते हैं उस समय अनुष्ठीयमान प्रत्येक कार्य का क्रमज्ञान होना आवश्यक है अन्यथा विक्षेप होगा। अत एव क्रम की एक विशेष प्रकार विस्तार या वितति कहा गया है। क्रम से अनुष्ठित कई प्रकार की क्रियाएं विस्तार विशेष को प्राप्त करती है। क्रम ज्ञान से क्रियाओं का अनुष्ठान अव्यवहित रूप में होता है। ग्रन्थकार क्रम का लक्षणान्तर भी प्रस्तुत करता है इससे प्रतीत होता है प्रथम लक्षण में उसकी अनास्था है। पौर्वापर्य को क्रम का दूसरा ल्रक्षण माना है। अर्थात् कौन पूर्व में है और कौन बाद में इसी को क्रम कहते हैं।

(३६) **तत्र षट् प्रमाणानि-श्रुति-अर्थ-पाठ-स्थान-मुख्य-प्रवत्याख्यानि।**

अर्थ :- क्रम–निर्धारण में श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य और प्रवत्ति नामक छः प्रमाण होते हैं।

विशेष :- पिछले प्रकरण में क्रम के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उसके दो लक्षण लिखे गये हैं 'वितति' (विस्तारविशेष) और 'पौर्वापर्य'। पौर्वापर्य को निर्धारित करने में –'श्रुति, अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य तथा प्रवत्ति नाम के छः प्रमाण होते हैं। इनका स्वरूप अगले प्रकरणों में स्पष्ट किया गया है।

(३७) **तत्र क्रमपरवचनं श्रुतिः। तच्च द्विविधिम्-केवलक्रमपरं तद्विशिष्टपदार्थपरं चेति। तत्र 'वेदं कृत्वा वेदिं करोती'ति केवलक्रमपरं, वेदिकरणादेर्वचनान्तरप्राप्तत्वात्। 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष' इति तु क्रमविशिष्टपदार्थपरम्। एकप्रसरता भङ्गभयेन भक्षानुवादेन क्रममात्रस्य विधातुमशक्यत्वात्।**

अर्थ :- इन छः प्रमाणों में क्रमबोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। श्रुतिप्रमाण दो प्रकार का होता है–१. केवल क्रमबोधक और २. क्रमविशिष्ट पदार्थ–बोधक। इन दोनों भेदों में से 'कुशमुष्टि (वेद) को करके गड्ढाविशेष (वेदि) को करते हैं, यह केवल क्रमबोधक है, क्योंकि वेदि के निर्माण आदि से सम्बद्ध अन्य वाक्य अन्यत्र उक्त हैं। 'वषट् करने वाले का भक्षण प्रथम हो' यह क्रमविशिष्ट पदार्थ का बोधक है। एकवाक्यता का भङ्ग होने के डर से 'भक्ष' का अनुवाद करके क्रममात्र का विधान असम्भव है।

विशेष :- क्रम के निर्धारक छः प्रमाणों में श्रुति प्रमाण प्रथम है। क्रम बोधक शब्द को श्रुति कहते हैं। इसमें क्रम का वाचक शब्द स्वयं उपस्थित होता है जिसकी श्रुति से ज्ञात हो जाता है कि किसके बाद क्या करना है।

श्रुति के दो भेद माने गये हैं (१) केवल क्रममात्र बोधक, (२) एवं क्रमविशिष्टपदार्थबोधक। प्रथम भेद को समझाने के

लिये 'वेदं कृत्वा वेदिं करोति' इस दष्टांत का आश्रय लिया जाता है। इस वाक्य में 'वेद एवं वेदी' के निर्माण का विधान नहीं किया गया है अपितु 'क्त्वा' प्रत्यय से वेदकरण एवं वेदिकरण का पौवापर्यरूपी क्रम का बोध कराया गया है। क्योंकि दर्शपूर्णमास प्रकरण में इन दोनों का विधान पूर्वतः प्राप्त है।

'वषट्त्तुःप्रथममक्षः' द्वारा क्रमविशिष्टपदार्थबोधक श्रुति का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है। याज्ञिकी मान्यता के अनुसार होता को 'वषट्' का उच्चारण करने से वषट्कर्त्ता' कहते हैं। प्रक्रिया यह है कि देवतोद्देश्य से द्रव्यादि का त्याग करते हुए अध्वर्यु 'अग्नये अनुब्रूहि' कहकर 'प्रैष्' अर्थात् आज्ञा प्रदान करता है तदनन्तर 'होता' पुरोनुवाक्य का पाठ आहुति देने से पहले करता है। इसके बाद अध्वर्यु 'अग्निं यज' रूप में दूसरा 'प्रैष' करता है और तब 'होता' देवता के लिए याज्या मन्त्रों का पाठ करता है–'याज्यया अधि वषट् करोति'–देवता के नाम के साथ वषट् शब्द का प्रयोग अन्त में किया जाता है। इसलिये 'होता' की 'वषट् कर्तु' संज्ञा है।

'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इस दष्टान्त में 'होता के प्रथम भक्षण' का निर्देश है। यहाँ 'प्रथम' शब्द भक्षण क्रिया के विशेष रूप में व्यवहृत है। 'प्राथम्य' पद क्रम का भी बोधक है। अतः यह श्रुति वस्तुतः प्राथम्यरूप 'क्रम' से विशष्ट भक्षणरूप पदार्थ का निर्देश कर रही है इस प्रकार इसे 'क्रमविशिष्ट पदार्थ बोधक' कहा गया है।

इस प्रसंग में संशय यह है कि 'वषट्कर्त्तु प्रथमभक्षः' इस विधिवाक्य को 'केवलक्रमपरक' क्यों न माना जाय? इसका उत्तर देते हुए ग्रन्थकार ने कहा है–एकप्रसरताभङ्गभयेन क्रममान्नस्य विधातुमशक्यत्वात्।'

प्रस्तुत संदर्भ में प्रथमतया 'एकप्रसरता' पद पर विचार करना आवश्यक है। 'प्रसरः' का अर्थ यदि वाक्य माने तो 'एकप्रसरता' का अर्थ 'एक वाक्यता' होगा और 'एकप्रसरताभङ्गः' का अर्थ 'वाक्यभेद' होगा। आशय यह है कि यदि इस वाक्य को केवल क्रमपरक ही माना जायेगा तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि इसके द्वारा वषट्कार के लक्षण भी विधान हैं तब वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः एक ही वाक्य से वषट्कारी भक्षयति, एवं वषट्कारी प्रथमं भक्षयति च' दो वाक्यों की कल्पना करनी होगी, इस तरह वाक्य भेद होगा। अतः इससे 'क्रमविशिष्टभक्षण का बोध करना ही उचित है।

(३८) सेयं श्रुतिरितरप्रमाणापेक्षया बलवती। तेषां वचनकल्पनद्वारा क्रमप्रमाणत्वात्। अत एवाश्विनग्रहस्य पाठक्रमात्ततीयस्थाने ग्रहणप्रसक्तौ 'आश्विनो दशमो गह्यत' इति वचनाद्दशमस्थाने ग्रहणमित्युक्तम्।

यह चर्चित श्रुति अन्य प्रमाणों की अपेक्षा प्रबल है क्योंकि अन्यों में क्रमबोधक शब्द की कल्पना करके ही क्रम में प्रमाणता होती है। इसीलिये पाठ–क्रम से आश्विनग्रहण ततीय स्थान पर प्राप्त था, किन्तु 'आश्विनो दशमो गह्यते'–आश्विन दशम स्थान पर गहीत होता है–इस शब्द के कारण दशम स्थान पर उसका ग्रहण हो, ऐसा मीमांस सूत्र के पचम अध्याय के चतुर्थपाद के प्रथम अधिकरण में कहा गया है।

विशेष :- इस श्रुति को अर्थादि प्रमाणों की अपेक्षा बलवान् माना है। क्योंकि क्रमबोध को श्रुति शीघ्रतया कराने में समर्थ है। यथा–'ऐन्द्रवायवं गह्णाति, मैत्रावरुणं गह्णाति, आश्विनं गह्णाति' मन्त्र में 'आश्विनग्रहण' का पाठ क्रम के आधार पर ततीय स्थान है परन्तु 'आश्विनी दशमी गह्यते' इस श्रुति वचन से 'आश्विनग्रहण' का 'दशम स्- थान' पहले से निर्दिष्ट है अर्थात् क्रमबोधक वचन प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः पाठ से श्रुति प्रबल है।

(३९) यत्र प्रयोजनवशेन क्रमनिर्णयः सोथक्रमः। यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति', 'यवागूं पचती' त्यग्निहोत्रयवागूपाकयोः। अत्र हि यवाग्वा होमार्थत्वेन तत्पाकः प्रयोजनवशेन पूर्वमनुष्ठीयते।

जहाँ उद्देश्यविशेष के कारण क्रम का अवधरण हो वह अर्थक्रम है। जैसे–'अग्निहोत्रं जुहोति'–अग्निहोत्र करता है, 'यवागूं पचति'–लपसी पकाता है–अग्निहोत्र और यवागूपाक इन दोनों में, क्योंकि यहाँ यवागू लपसी होम के लिये उपकारक होने से, उसका पाक उद्देश्यविशेष के कारण अग्निहोत्र से पहले सम्पन्न किया जाता है।

विशेष :- क्रम निर्धारण में दूसरा प्रमाण 'अर्थक्रम' है अर्थात् अर्थ या प्रयोजन को दष्टिगत करके जहाँ क्रम का निर्धारण होता है। अग्निहोत्र प्रकरण में क्रमशः 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'यवागूं पचति' पाठ मिलता है। वहाँ इन दोनों के क्रम के सम्बन्ध में संशय होता है। परन्तु दोनों वाक्यों पर विचार करने पर 'यवाग्वाः होमार्थत्वम्' अर्थात् यवागू पाक अग्निहोत्र होम के लिये, यह बोध होता है। यह निर्णय वस्तुतः अर्थक्रम के अनुसार है पाठक्रम के आधार पर नहीं है।

(४०) स चायं पाठक्रमाद् बलवान्। यथापाठं ह्यनुष्ठाने क्लप्तप्रयोजनबाधोदष्टार्थत्वं च स्यात्। न हि होमानन्तरं क्रियमाणस्य पाकस्य किचिद् दष्टं प्रयोजनमस्ति।

यह अर्थक्रम पाठक्रम से प्रबल है। पाठ के अनुसार अनुष्ठान करने पर निर्धारित प्रयोजन का बाध होने लगेगा और पाक की अदष्टार्थता भी होगी, क्योंकि होम के पश्चात् सम्पादित किये जाने वाले पाक का कोई प्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं रहेगा।

विशेष :- पाठक्रम के अर्थक्रम को बलवान् माना गया है क्योंकि पाठक्रम के अनुसार पहले 'अग्निहोत्रहोम' के तत्पश्चात्! 'यवागूपाक'। यदि हम इस क्रम को स्वीकार करेंगे तो 'कलप्तबाध' होगा। क्लप्तबाध का अर्थ है–'क्लप्तं दष्टं यत् प्रयोजनं यावाग्वाः होमार्थत्वं तस्य बाधः।' अर्थात् यवागू पाक का दष्ट प्रयोजन अग्निहोत्रहोम की सिद्धि है, अतः पाठक्रम मानने पर उसका 'बाध' होगा क्योंकि अग्निहोत्रहोम के बाद 'यवागू पाक' का कोई दष्ट प्रयोजन नहीं रहता। अतः अदष्ट प्रयोजन की कल्पना करनी होगी जो कि 'लभ्यामाने फले दष्टे नादष्टपरिकल्पना' नामक न्याय के विरुद्ध है।

(४१) **पदार्थबोधकवाक्यानां यः क्रमः स पाठक्रमः। तस्माच्च पदार्थानां क्रम आश्रीयते। येन हि क्रमेण वाक्यानि पठितानि तेनैव क्रमेणाधीतान्यर्थप्रत्ययं जनयन्ति। यथाप्रत्ययं च पदार्थानामनुष्ठानम्। स च पाठो द्विविधः-मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठश्चेति।**

कर्म के बोधक वाक्यों का जो क्रम है वही पाठक्रम प्रमाण है। उससे कर्मों का क्रम निश्चित होता है क्योंकि जिस क्रम से वाक्य पठित होते हैं उसी क्रम से वाचित होने पर अर्थ का ज्ञान कराते हैं। ज्ञान के क्रम से ही क्रियाओं का सम्पादन होता है। यह पाठ भी दो प्रकार का होता है–मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ।

विशेष :- कर्म के बोधक वाक्यों का जो क्रम है, वही पाठक्रम के नाम का प्रमाण है। यह पाठक्रम मन्त्रपाठ और ब्राह्मणपाठ भेद से दो प्रकार का होता है। मन्त्रपाठ का अर्थ है क्रमशः पढ़े गये संहिता मन्त्र और ब्राह्मण पाठ का अर्थ है क्रमशः ब्राह्मणग्रन्थों में अलिखित वाक्य।

(४२) **तत्राग्नेयाग्नीषोमीययोस्तत्तद्याज्यानुवाक्यानां पाठाद्यः क्रम आश्रीयते स मंत्रपाठात्।**

स चायं मन्त्रपाठो ब्राह्मणपाठाद् बलीयान्, अनुष्ठाने ब्राह्मणवाक्यापेक्षया मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वात्। ब्राह्मणवाक्यं हि प्रयोगाद् बहिरेवेदं कर्तव्यमिति अवबोध्य कृतार्थम्। मन्त्राः पुनः प्रयोगकाले व्याप्रियन्ते, अनुष्ठानक्रमस्य स्मरणक्रमाधीनत्वात्। तत्क्रमस्य च मन्त्रक्रमाधीनत्वाद् अन्तरङ्गोयं मन्त्रपाठ इति। प्रयाजानां 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्येवंविधपाठक्रमाद्यः क्रमः स ब्राह्मणपाठक्रमात्। यद्यपि ब्राह्मणवाक्यान्यर्थ विधाय कृतार्थानि तथापि प्रयाजादीनां क्रमस्मारकान्तरस्याभावात्तान्येव क्रमस्मारकत्वेन स्वीक्रियन्ते।

उनमें आग्नेय और अग्नीषोमीय यागों उन–उन के याज्या और आनुवाक्या के पाठ से जो क्रम लिया जाता है वह मन्त्रपाठ से समझना चाहिये।

यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ की अपेक्षा प्रबल होता है, क्योंकि अनुष्ठान में ब्राह्मणवाक्य की अपेक्षा मन्त्र पाठ अन्तरङ्ग होता है। ब्राह्मणवाक्य अनुष्ठान से बाहर ही 'यह करना चाहिये' इतना बतला कर विरत हो जाता है, जब कि मन्त्र अनुष्ठान के समय व्यवहृत होते हैं, क्योंकि अनुष्ठान का क्रम स्मरण के क्रम पर आश्रित होता है और स्मरण का क्रम मन्त्र के क्रम के अधीन होता है, अतः यह मन्त्रपाठ अन्तरङ्ग होता है। 'समिधो यजति', 'तनूनपातं यजति' इस प्रकार के पाठ के क्रम से प्रयत्न आदि का जो क्रम होता है वह ब्राह्मण–पाठक्रम से होता है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अर्थों का विधान करके कृतकृत्य हो जाते हैं, तथापि प्रयाज आदि में कोई दूसरा क्रम स्मारक न होने से वे ब्राह्मणवाक्य ही क्रमस्मारक के रूप में स्वीकार किये जाते हैं।

विशेष :- यह मन्त्रपाठ ब्राह्मणपाठ से बलवान् होता है क्योंकि अनुष्ठान में मन्त्रपाठ ब्राह्मण पाठ की अपेक्षा अन्तरंग होता है। कारण यह है कि ब्राह्मण वाक्य क्रियानुष्ठान से पथक् रहकर 'इदं कर्त्तव्यम्'–ऐसा करना चाहिए इस प्रकार ज्ञापन करके चरितार्थ हो जाता है परन्तु मन्त्र अनुष्ठानकाल में व्यवहृत होता है। क्रियानुष्ठान का क्रम स्मरणक्रम के अधीन होता है और उस स्मरणक्रम का आधार मन्त्र पाठक्रम है अतः मन्त्रपाठ अन्तरंग माना जाता है।

'समिधो यजति, सनूनपातं यजति' इस प्रकार प्रयाजयागों का जो क्रम है वह ब्राह्मण पाठ के क्रमानुसार है। यद्यपि ब्राह्मणवाक्य अर्थावबोध कराके चरितार्थ हो जाते हैं तथापि प्रयाजादि यागों का अन्य दूसरा कोई स्मारक न होने से ब्राह्मण वाक्य ही क्रम का स्मारक होता है।

(४३) **स्थानं नामोपस्थितिः। यस्य हि देशे योनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवतीति युक्तं तस्य प्रथममनुष्ठानम्। अत एव साद्यस्क्रे अग्नीषोमीय-सवनीया-नुबन्ध्यानां सवनीयदेशे सहानुष्ठाने कर्तव्ये आदौ सवनीयपशोरनुष्ठानमितरयोः पश्चात्। तस्मिन्देशे आश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयस्यैव प्रथममुपस्थितिः।**

स्थान का अर्थ है उपस्थित होना। जिसके स्थान पर जिसका सम्पादन किया जाता है उससे पूर्ववर्ती कर्म को सम्पन्न

करने पर वही पहले उपस्थित होता है इसलिये उसी का पहले सम्पादन उचित है। इसी से साद्यस्क्र याग में अग्नीषोमीय, सवनीय और आनुबन्ध्य का सवनीय के अवसर पर एक साथ अनुष्ठान करणीय होने पर सर्वप्रथम सवनीय पशु का अनुष्ठान होगा, अन्य दोनों का बाद में। क्योंकि उस स्थान पर आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय की ही प्रथम प्राप्ति होती है।

विशेष :- 'पाठक्रम के प्रतिपादन के अनन्तर क्रम प्राप्त 'स्थानक्रम' का निरूपण इस अनुभाग में किया गया है। स्थान का लक्षण संक्षेपतः 'स्थानं नाम उपस्थितिः' करके विशदार्थ प्रकट करने के लिए ग्रन्थकार ने लिखा है :

'यस्य ही देशे यो अनुष्ठीयते तत्पूर्वतने पदार्थे कृते स एव प्रथममुपस्थितो भवति।' अर्थात् जिसके स्थान पर जिसका सम्पादन किया जाता है उससे पूर्ववर्ती कर्म को सम्पन्न करने पर स्थान क्रम द्वारा पहले वही उपस्थित होता है।

स्थान का सामान्य स्वरूप इस प्रकार समझा जा सकता है। एक स्थान पद यदि कई अनुष्ठेय कर्मों का साहित्य हो जाय तो यह शंका होना स्वाभाविक है कि इन सब में प्रथमतया अनुष्ठेय कौन है ? इसका समाधान यह किया गया है कि जिसके देश में जिसका अनुष्ठान किया जाता है उसके अव्यवहित पूर्व में विद्यमान क्रिया के अनुष्ठान होने पर वही प्रथमतया उपस्थित होता है। अतः उसका सबसे प्रथम अनुष्ठान करना समीचीन है।

(४४) तथा हि ज्योतिष्टोमे त्रयः पशुयागाः - अग्नीषोमोयः सवनीय आनुबन्ध्यश्चेति। ते च भिन्नदेशाः - अग्नीषोमीय औपवसथ्येह्नि, सवनीयः सुत्याकाले, आनुबन्ध्यस्त्वन्ते। साद्यस्क्रो नाम यागविशेषः। स चाव्यक्तत्वाज्ज्योतिष्टोम-विकारः। अतस्ते त्रयोपि पशुयागाः साद्यस्क्रे चोदकप्राप्ताः। तेषां च तत्र साहित्यं श्रुतं 'सह पशूनालभेत' इति। तच्च साहित्यं सवनीयदेशे, तस्य प्रधानप्रत्यासत्तेः, स्थानातिक्रमसाम्याच्च।

सवनीयदेशे ह्यनुष्ठानेग्नीषोमीनुबन्ध्ययोः स्वस्वस्थानातिक्रमो भवति। अग्नीषोमीयदेशेनुबन्ध्यदेशे वा अनुष्ठाने त्रयाणामपि स्वस्वस्थानातिक्रमः। तथा च-

प्रकृतौ-"आश्विनग्रहं कृत्वा त्रिवता यूपं परिवीय आग्नेय सवनीयपशुमुपाकरोती" त्याश्विनग्रहणानन्तरं सवनीयो विहित इति साद्यस्क्रेप्याश्विनग्रहणे कृते सवनीय एवोपस्थितो भवति। अतो युक्तं तस्य स्थानात्प्रथममनुष्ठानमितरयोस्तु पश्चादियुक्तम्।

जैसे कि 'ज्योतिष्टोम' में तीन पशुयाग किये जाते हैं–१. अग्नीषोमीय २. सवनीय और ३. आनुबन्ध्य। और ये तीनों पथक्–पथक् अवसरों पर किये जाते हैं–आग्नीषोमीय औपवसथ्य दिन में सवनीय सुत्याकाल और अनुबन्ध्य तो अन्तिम दिन। साद्यस्क्र एक विशेष याग है, जो देवता, द्रव्य आदि के अव्यक्त–अनिर्दिष्ट–होने के कारण ज्योतिष्टोम का विकार है। इसलिये ये तीनों ही पशुयाग साद्यस्क्र याग में अतिदेश से प्राप्त होते हैं। 'पशुओं का एक साथ आलम्भन करे'–'सह पशूनालभेत'–इस मन्त्र से उन पशुओं का एक साथ सम्पादन–साहित्य–निर्दिष्ट है। वह साहित्य सवनीय देश में ही अनुष्ठान से संभव होता है, क्योंकि ऐसा करने पर ही वह साहित्य प्रधान कर्म के अतीव समीप हो पाता है और स्थान के अतिक्रमण में भी समानता होती है। सवनीयदेश में अनुष्ठान करने पर अग्नीषोमीय और अनुबन्ध्य दोनों का अपने–अपने ही स्थानों का अतिक्रमण–उल्लंघन होता है, किन्तु अग्नीषोमीय के स्थान पर अथवा अनुबन्ध्य देश पर अनुष्ठान करने से तीनों का ही अपने–अपने स्थान का अतिक्रमण होता है। जैसे कि–प्रकृति–याग में–'आश्विनग्रहं गहीत्वा०'–आश्विन का ग्रहण करके तीन आवरणों से यूप को आवत करके अग्निदेवताक सवनीयपशु को उपस्थित करे' इस मन्त्र के अनुसार आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय का ही विधान है। अतः साद्यस्क्र में भी आश्विनग्रहण के पश्चात् सवनीय ही विहित है, इसलिये साद्यस्क में भी आश्विनग्रहण करने पर सवनीय ही उपस्थित होता है। इससे स्थानप्रमाण के आधार पर इस सवनीय का ही पहले सम्पदन उचित है, अन्य दोनों का बाद में, ऐसा मीमांसासूत्र।

विशेष :- ज्योतिष्टोम नामक प्रकृति याग में अग्नीषोमीय, सवनीय एवं आनुबन्ध्य संज्ञक पशुओं का क्रमशः 'औपवसथ्य', 'सुस्याकाल' सवं 'अवभथ' संज्ञक दिनों में आलमन का विधान किया गया है।

साद्यस्क्र नामक सोमयागविशेष को ज्योतिष्टोम की विकृति माना गया है, क्योंकि इसमें देवता का नाम एवं सभी अंगों का विधान नहीं मिलता। अतः ज्योतिष्टोम के अनुरूप ही यहाँ अनुष्ठान होता है। परन्तु 'साद्यस्क्र का अपना वैशिष्ट्य यह है कि उपरिलिखित तीनों पशुओं के आलमन का विधान एक ही दिन में किया गया है जो कि 'सह पशून् आलमते' इस विधिवाक्य से विहित है। यहाँ शंका यह है कि 'आलमन' का दिन कौन सा होगा ? एवं तीन पशुओं में से सर्वप्रथम किस संज्ञक पशु का आलमन होगा ? इन शंकाओं का उत्तर ही स्थानक्रम में मिलता है। इनमें से प्रथम शंका का समाधान दो तर्कों के आश्रय से हुआ है–(१) प्रधान–प्रत्यासत्ति एवं (२) स्थानातिक्रमसाम्य। 'प्रधान प्रत्यासत्ति' का तात्पर्य है मुख्य क्रिया से समीपता। आशय

यह है कि—साद्यस्क्र सोमयाग की प्रधान क्रिया द्वितीय दिन में अनुष्ठेय 'सोमसवन' है। प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में 'सवन' का काल यही है। अतः 'सुत्याकाल' के दिन ही तीनों पशुओं का आलमन 'प्रधानप्रत्यासत्ति' को चरितार्थ करेगा।

सवनीय दिन ही पशआलमनविधान में दूसरा तर्क 'स्थानातिक्रम्य' है। 'स्थानातिक्रम्य' का बोधगम्य अर्थ है—'स्थानों के उलङ्गन या अतिक्रमण की समानता। ज्योतिष्टोम में पशुओं के आलमन में निम्न क्रम है :—

औपवसथ्य दिन में अग्निषोमीय पशु सुत्याकाल में सवनीय और अवमथ में आनुबन्ध्य।

परन्तु साद्यस्क्र सोमयाग के सुत्याकाल क्या सवनीय देश में तीनों पशुओं का आलमन हो, तो अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य स्व—स्व स्थानों का परित्याग करके 'सवनीय देश' को प्राप्त करते हैं इस तरह केवल एक एक स्थानातिक्रमण हुआ। परन्तु अग्नीषोमीय देश में अनुष्ठान करने पर सवनीय पशु का एक स्थानातिक्रमण एवं आनुबन्ध्य के दो स्थानातिक्रमण होंगे। इसी प्रकार यदि आनुबन्ध्य देश में अनुष्ठान का निश्चय हो तो अम्नीषोमीय पशु द्वारा दो स्थानातिक्रमण होगा और सवनीय पशु द्वारा एक। अतः अन्तिम दो विकल्पों में स्थानातिक्रमण की विषमता होने के कारण सवनीय देश में अनुष्ठान करना न्यायसंगत है।

इस प्रसंग में दुसरी शंका यह है कि तीनों पशुओं में से किसका सबसे पहले आलमन होगा। इस शंका का सामान्यतः समाधान यह किया जा सकता है कि प्रकृति याग ज्योतिष्टोम में जिस क्रम को स्वीकार किया गया, वही क्रम यहाँ भी मानना चाहिये। परन्तु 'स्थानक्रम प्रमाण' से ऐसा मानना उचित नहीं है। भाव यह है कि—

प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम में आश्विनग्रहण के अनन्तर सवनीय पशु का अनुष्ठान विहित है। अतः विकृति याग में भी आश्विनग्रहण के बाद सवनीय की उपस्थिति ही प्राप्त है। ग्रन्थकार ने इस उपस्थिति को ही स्थान प्रमाण कहकर 'स्थानं नाम उपस्थितिः' रूप में उसका लक्षण किया है। अतः सवनीय पशु के अनन्तर क्रमशः अग्नीषोमीय एवं आनुबन्ध्य पशु का अनुष्ठान दिया जाता है। यही क्रम प्राप्त उपस्थिति है जिसके निर्धारण के लिए स्थान प्रमाण की आवश्यकता है।

(४५) प्रधानक्रमेण योङ्गानां क्रमः स मुख्यक्रमः। येन हि क्रमेण प्रधानानि क्रियन्ते तेनैव क्रमेण तेषामङ्गान्यनुष्ठीयन्ते चेत् तदा सर्वेषामङ्गानां स्वैः स्वैः प्रधानैस्तुल्यं व्यवधानं भवति। व्युत्क्रमेणानुष्ठाने केषांचिदङ्गानां स्वैः प्रधानैरत्यन्तमव्यवधानं केषांचिदत्यन्तं व्यवधानं स्यात्, तच्चायुक्तं, प्रयोगविध्यवगतसाहित्यबाधापत्तेः। अतः प्रधानक्रमोप्यङ्गक्रमे हेतुः। अत एव प्रयाजशेषणा दावाग्नेयहविषोभिघारणं पश्चादैन्द्रस्य दध्नः, आग्नेयैन्द्रयागयोः पौर्वापर्यात्। एवं च द्वयोरभिघारणयोः स्वस्वप्रधानेन तुल्यमेकान्तरितं व्यवधानं, व्युत्क्रमेणाधारे त्वाग्नेयहविरभिघारणाग्नेययागयोरत्यन्तमव्यवधानम्, ऐन्द्रदध्यभिघारणैन्द्रयागयोर्द्व्यन्तरितं व्यवधानं तच्चायुक्तमित्युक्तमेव।

स च मुख्यक्रमः पाठक्रमाद् दुर्बलः। मुख्यक्रमो हि प्रमाणान्तरसापेक्षप्रधानक्रमप्रतिपत्तिसापेक्षतया विलम्बितप्रतिपत्तिकः। पाठक्रमस्तु निरपेक्षस्वाध्याय-पाठक्रममात्रसापेक्षतया न तथेति बलवान्। स चायं मुख्यक्रमः प्रवत्तिक्रमाद् बलवान्। प्रवत्तिक्रमे हि बहूनामङ्गानां प्रधनविप्रकर्षात्, मुख्यक्रमे तु संनिकर्षात्।

प्रधानयाग के क्रम से जो अङ्गों का क्रम होता है वह मुख्य क्रम है। जिस क्रम से प्रधान कर्म किये जाते हैं उसी क्रम से यदि उनके अङ्गों का अनुष्ठान किया जाये तो सभी अङ्गों की अपने—अपने प्रधानों से समान दूरी होगी। विपरीत क्रम से अनुष्ठान करने पर कुछ अङ्गों का अपने प्रधानों से बहुत अधिक सामीप्य हो जायेगा और कुछ का बहुत अधिक व्यवधान। यह उचित नहीं है क्योंकि प्रयोगविधि से जिस सामीप्य का ज्ञान होना चाहिये उसी का बाध होने लगेगा। इसलिये प्रधानक्रम भी अङ्गक्रम में निमित्त होता है। इसी से प्रयाज के अन्त में पहले अग्निविषयक हवि का अभिघारण होता है और बाद में इन्द्रविषयक दधि का, क्योंकि आग्नेय और ऐन्द्र इन दोनों यागों में पौर्वापर्य है। ऐसा करने से दोनों अभिघारणों का अपने—अपने प्रधान से बराबर का एक—एक का ही बीच में अन्तर पड़ता है, जब कि विपरीत क्रम से अभिधारण करने पर आग्नेय हवि और आग्नेय याग में अत्यन्त निकटता हो जायेगा, ओर ऐन्द्रदधि के अभिधारण तथा ऐन्द्रयाग के बीच से दो के अन्तर की दूरी पड़ती है। इस प्रकार का असमान अन्तर अनुचित है, यह स्थानक्रम के प्रसङ्ग में कहा ही गया है।

यह मुख्यक्रम पाठक्रम से दुर्बल है। क्योंकि मुख्यक्रम को दूसरे प्रमाण पर आश्रित प्रधान क्रम के ज्ञान की आवश्यकता पड़ने से क्रम का ज्ञान विलम्ब से होता है। पाठक्रम तो प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने वाले स्वाध्याय पाठक्रम पर आश्रित रहने के कारण वैसा नहीं होता है, अतः प्रबल होता है। यह मुख्यक्रम प्रवत्तिक्रम से प्रबल है क्योंकि प्रवत्तिक्रम में बहुत से अङ्ग प्रधान से दूर पड़ते हैं, जब कि मुख्यक्रम में निकट।

विशेष :- स्थान क्रम के निरूपण के पश्चात् मुख्यक्रम पर विचार किया गया है।

मुख्यक्रम के स्वरूप पर विचार करते हुए ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम उसका लक्षण किया है—'प्रधानक्रमेण योङगानां क्रमः

स मुख्यक्रमः'। भाव यह है कि जिस क्रम का अवलम्बन करके प्रयासों का अनुष्ठान होता है उसी क्रम का अवलम्बन उसके अंगों के लिए भी होता है इस प्रकार क्रमानुसार अनुष्ठान में प्रधान एवं अंगों में तुल्य व्यवधान रहता है। 'तुल्य व्यवधान' से प्रयोजन विशेष की सिद्धि होती है। 'प्रयोगविधि के निरूपणप्रसङ्ग में यह बताया जा चुका है कि यह विधि अनुष्ठान को शीघ्रता से सम्पन्न कराने का बोध कराती है। यह बात तभी सम्भव है जब प्रधान एवं उनके अंगों का अनुष्ठान साथ–साथ हो अर्थात् उनमें अनुष्ठान काल में अधिक अन्तर न हो। यद्यपि कई प्रधान कर्मों का अनुष्ठान यदि उनके अंगों सहित करना पड़ता है तब यह नितान्त असम्भव है कि सबका अनुष्ठान एक साथ अर्थात् एककालावच्छेदेन है। अतः कुछ व्यवधान होना स्वाभाविक है। परन्तु आवश्यक यह है कि प्रत्येक प्रधान एवं उसके अंग के अनुष्ठान के व्यवधान का काल समान हो। यह तभी सम्भव हो सकता है जब अंगों के अनुष्ठान का क्रम प्रधान के अनुष्ठान क्रम से हो। यदि इस प्रक्रिया का परिपालन नहीं किया जाता, तब कुछ प्रधान एवं उनके अंगों में अत्यन्त निकटता एवं कुछ में अत्यन्त दूरी अपरिहार्य होगी और इस प्रकार सहानुष्ठान (साहित्य) की प्रक्रिया में बाधा होगी। अतः मुख्यक्रम से अंगक्रम का निर्णय किया जाता है। इस निर्णीत सिद्धान्त को दष्टान्त से इस प्रकार समझा जा सकता है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में 'आग्नेय याग' एवं 'ऐन्द्र याग' संज्ञक दो प्रधान कर्म विहित हैं। आग्नेय याग का हविष् पुरोडाश एवं ऐन्द्र योग का दधि विहित है। आग्नेय एवं ऐन्द्र यागों के क्रम का निर्णय क्रमशः उनकी याज्या एवं पुरोनुवाक्या द्वारा हुआ है। इनका अनुष्ठान प्रयाज्ञ होम के अनन्तर किया जाता है। 'प्रयाजशेषेण हविधि अभिचारयति' वाक्य द्वारा प्रयाजानुष्ठान से अवशिष्ट घत का हविष् का अभिधारण निर्दिष्ट है। दर्शयाग में (१) आग्नेय पुरोडाश (२) ऐन्द्र दधि तथा (३) ऐन्द्र पयस्)–पुरोडाश, दधि एवं पयस् ये तीन द्रव्य हैं। शंका यह है कि तीनों द्रव्यों पर अभिधारण का क्रम क्या है ? समाधान हेतु मुख्यक्रम का आश्रय लेना पड़ता है। इस सिद्धान्त द्वारा आग्नेय याग के हवि पुरोडाश का अभिधारण पहले होगा, तदनन्तर ऐन्द्रयाग के हवि दधि का अभिधारण होगा। इस क्रम को मानने पर प्रधान एवं उसके अङ्ग के अनुष्ठान में तुल्यव्यवधान है। परन्तु व्युत्क्रम (=विरुद्धः क्रमः) स्वीकार करने पर आग्नेयहविरभिधारण एवं आग्नेय याग अत्यन्त समीप हो जाते हैं और ऐन्द्रदध्यभिधारण तथा ऐन्द्रयाग एक दूसरे से दूर हो जाते हैं।

यह मुख्य क्रम प्रमाण पाठक्रम से दुर्बल है। मुख्यक्रम से तात्पर्य है–अंगों के अनुष्ठान का क्रम जो उनके प्रधान के कर्मों में निर्णीत है। अतः मुख्यक्रमञका आधार प्रधान क्रम का ज्ञान है। प्रधानक्रम पाठक्रम पर आधत है। अतः प्रधानक्रम प्रमाणान्तर की अपेक्षा करता है ऐसा कहा गया है। इस प्रकार मुख्यक्रम का ज्ञान, पाठक्रम एवं प्रधानक्रम पर निर्भर रहने के कारण, विलम्ब से होता है। परन्तु पाठक्रम अपेक्षाकृत शीघ्रता से जाना जाता है। क्योंकि वह निरपेक्ष वेद के पाठक्रम ही अपेक्षा रहता है।

याज्ञिक प्रक्रिया में निर्दिष्ट दष्टान्त द्वारा इसे अधिक स्पष्टतः समझा जा सकता है। दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत पूर्णमास में उपांशु एवं अग्नीषोमीय संज्ञक दो याग विहित हैं। इनमें से प्रथम याग का 'आज्य' द्रव्य है, 'उत्पवन' एवं 'चतुर्गहीतत्व' आदि आज्य के धर्म हैं। द्वितीय याग का 'पुरोडाश' द्रव्य है, 'पुरोडाश' के निर्वाप' एवं 'अवघात्' आदि धर्म है। अब संशय यह है कि आज्य धर्मों का प्रथमतया अनुष्ठान होगा अथवा पुरोडाश का ? मुख्यक्रम प्रमाण के अनुसार आज्य धर्मों का प्रथमतया अनुष्ठान होगा। तदनन्तर पुरोडाश का; क्योंकि इनके प्रधान क्रमशः उपांशु एवं अग्नीषोमीय याग है अतः प्रधान के अनुष्ठान क्रम से अंगों का भी अनुष्ठान संगत है परन्तु यह समाधान उचित नहीं है क्योंकि स्वाध्याय पाठक्रम में निरूपित क्रम इससे भिन्न हैं अर्थात् वेद में पुरोडाश की 'निर्वाप' एवं अवघात आदि अंगक्रियायें प्रथमतया पठित हैं तथा आज्य की 'उत्पवन एवं चतुर्गहीतत्व' आदि क्रियाओं का पाठ वाद में है। अतः पाठक्रम की प्रबलता को स्वीकार करते हुए पुरोडाश धर्मों का अनुष्ठान पहिले एवं आज्य धर्मों का अनुष्ठान बाद में करना उपयुक्त है।

यह मुख्यक्रम प्रवत्ति क्रम से प्रबल होता है क्योंकि प्रवत्ति क्रम के अनुसार अनुष्ठान करने पर कई अंग अपने अपने प्रधान से व्यवहित हो जायेंगे। परन्तु मुख्य क्रमानुसार प्रधान के सन्निहित रहेंगे। प्रवत्तिक्रम के स्वरूप पर विशद विचार आगे किया जायेगा। सम्प्रति दर्शपूर्णमास याग से उदाहरण द्वारा इस प्राबल्य एवं दौर्बल्य भाव को समझा जा सकता है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण के दर्शयाग के अन्तर्गत आग्नेय एवं उपांशुसंज्ञक यागों का विधान है उपांशुयाग का सान्नाय याग भी संज्ञा है क्योंकि इसमें दूध एवं दधि का प्रयोग किया जाता है। आग्नेय याग के अवदान अभिधारण एवं हविरासादन आदि धर्म है एवं शाखाहरण, वत्सापकरण एवं दोहन के साथ–साथ अवदान आभिधारण एवं हविरासादन सान्नाय के धर्म माने गये हैं अतः सान्नाय्य धर्म के वस्तुतः दो भाग हो गये–

(१) शाखाहरण, सत्सापकरण एवं दोहन।

(२) अवदान, अभिधारण एवं हविरासादन। इन दोनों में से शाखाहरण, वत्सापकरण एवं दोहनादि कृष्णचतुर्दशी के दिन

इसलिये समाप्य हैं क्योंकि जब तक शाखाहरण करके (पलाश से) बछड़े को गाय से अलग (वत्सापकरण) नहीं किया जायेगा तब दोहन करके दर्श याग के लिये 'दधि' नहीं तैयार हो सकेगा। अवदान अभिधारण एवं हविरासादन का अनुष्ठान 'दर्श' के दिन होता है प्रवत्तिक्रम के अनुसार प्रधान के स भी अंगों का अनुष्ठान एक साथ हो जाना चाहिए। इस तरह 'सान्नाय याग' के धर्मों का अनुष्ठान साथ–साथ हो जाने पर क्रम का स्वरूप निम्न प्रकार होगा–

सर्वप्रथम–सान्नायधर्म, द्वितीय–आग्नेयधर्म, ततीय–आग्नेययाग, चतुर्थ–सान्नाययाग परन्तु इस क्रम में यह स्पष्ट है कि मुख्य सान्नाययाग अंगभूत धर्म उससे अत्यन्त व्यवहित है।

परन्तु मुख्य क्रम को प्रमाण मानने पर स्थिति भिन्न होगी। सान्नाययाग के धर्मों के अनुष्ठान के अनन्तर मुख्य क्रम प्रमाण के आधार पर अंगों का अनुष्ठान प्रधान के अनुष्ठान क्रमानुसार होगा।

प्रधान आग्नेय एवं सांन्नाय यागों का क्रम पूर्वनिर्णीत है अतः क्रम निम्न प्रकार होगा :–

(१) शाखाहरणादि तीन सांन्नाय धर्म (२) आग्नेय धर्म (३) सान्नाय याग के अवशिष्ट अवदानादि तीन धर्म, (४) आग्नेय याग, (५) सांन्नाय याग।

अतः स्पष्ट है कि पूर्व निर्दिष्टक्रम से इस क्रम में प्रधान एवं तदङ्गों में 'तुल्य व्यवधान' है। इस प्रकार अपने अपने अंगों तथा प्रधान तुल्य व्यवधान के कारण कर्म सम्पादन में अविलम्ब हो। इस अविलम्बता के कारण मुख्यक्रम प्रवत्ति क्रम से प्रबल सिद्ध होता है।

(४६) सहप्रयुज्यमानेषु प्रधानेषु संनिपातिनामङ्गानामावत्त्यानुष्ठाने कर्तव्ये हि द्वितीयादिपदार्थानां प्रथमानुष्ठितपदार्थक्रमाद्यः क्रमः स प्रवत्तिक्रमः। यथा प्राजापत्यपशवङ्गेषु। प्राजापात्या हि 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ती'ति वाक्येन ततीयानिर्देशात् सेतिकर्तव्यताका एककालत्वेन विहिताः, अतस्तेषां तदङ्गानां चोपाकरणनियोजनप्रभतीनां साहित्यं संपाद्यम्। तच्च प्राजापत्यपशूनां संप्रतिपन्नदेवताकत्वेन युगपदनुष्ठानादुपपद्यते। तदङ्गानां चोपाकरणादीनां युगपदनुष्ठानमशक्यम्। अतस्तेषां साहित्यमव्यवहितानुष्ठानात् संपाद्यम्। ततश्चैकस्योपाकरणं विषायापरस्योपाकरणं विधेयम्। एवं नियोजनादिकमपि। तथा च प्राजापत्येषु कस्माच्चित्पशोरारभ्य एकं सर्वत्रानुष्ठाय द्वितीयादिपदार्थस्तेनैव क्रमेणानुष्ठेयः स प्रवत्तिक्रमः।

सोयं श्रुत्यादिभ्यो दुर्बलः। तदेवं संक्षेपतो निरूपितः षड्विधक्रमनिरूपणेन प्रयोगविधिः।

साथ–साथ प्रधान क्रियाओं का अनुष्ठान करने पर 'सन्निपत्योपकारक अङ्गों' के अनुष्ठान की आवत्ति से अपेक्षा होने पर प्रथमतः सम्पादित क्रियाओं के क्रम से द्वितीय आदि क्रियाओं का जो क्रम होता है उसे प्रवत्तिक्रम कहते हैं, जैसे 'प्राजापत्य' नाम के पशुयागों के अङ्गों में होता है। 'वैश्वदेवीं कृत्वा प्राजापत्यैश्चरन्ति'–वैश्वदेवीयाग करके प्राजापत्य पशुओं से सम्बद्ध क्रियाओं के द्वारा अनुष्ठान करे–इस वाक्य से ततीया के निर्देश द्वारा प्राजापत्य पशुयागों का इतिकर्त्तव्यता के साथ एक काल में विधान किया गया है। इसलिये उन पशुयागों का तथा उनके अङ्ग उपाकरण, नियोजन आदि का साहित्य सम्पन्न करना अपेक्षित है। इस अनुष्ठान का साथ–साथ होना–साहित्य–समानदेवता वाले प्राजापत्यपशु से सम्बद्ध क्रियाओं को एक साथ सम्पन्न करने से संभव होता है। पशुयाग के उपाकरण आदि अङ्गों का एक साथ सम्पादन संभव नहीं। इसलिये उनके साहित्य का सम्पादन अव्यवहित अनुष्ठानों से करना चाहिये। वह व्यवस्थित अनुष्ठान तब होगा जब एक पशु का उपाकरण करके दूसरे का भी उपाकरण किया जाये। इसी प्रकार नियोजन आदि भी। इसका अभिप्राय यह है कि प्राजापत्य पशुओं में किसी भी पशु से आरम्भ करके एक कर्म को सबके साथ करके फिर द्वितीय आदि कर्मों को भी उसी क्रम से करना चाहिये। वही प्रवत्तिक्रम है।

वह यह प्रवत्तिक्रम श्रुति आदि प्रमाणों से दुर्बल है। इस प्रकार षड्विध क्रम के निरूपण से प्रयोगविधि का संक्षेप में निरूपण सम्पन्न हुआ।

विशेष :- याज्ञिकी प्रक्रिया में कभी–कभी एक कई प्रधान कार्यों का अनुष्ठान एक साथ करना पड़ता है। इन प्रधान कर्मों के साथ अनुष्ठेय अंग भी विविध होते हैं जिन्हें भी साथ–साथ ही करना पड़ता है। परन्तु व्यवहारतः यह संभव नहीं है। ऐसे परिस्थिति में 'प्रव़त्तिक्रम' से यह निर्णय प्राप्त होता है कि अंगों का अनुष्ठान किस क्रम में किया जाये।

स्पष्ट है कि 'प्रवत्तिक्रम' पद में प्रवत्ति शब्द इस बात का द्योतक है कि प्रथम अंग को अनुष्ठान हेतु चुनने के लिये हम स्वतन्त्र हैं परन्तु तत्पश्चात् दूसरे अंगों का उसी क्रम में अनुष्ठान करना होगा। इस निर्णीत मन्तव्य को दष्टान्त द्वारा भिन्न प्रकार से समझा जा सकता है–

'वाजपेय याग' में सप्तदश प्राजापत्यान् पशून् आलभेत' यह वाक्य उपलब्ध होता है इसके अनुसार प्रजापति देवता वाले १७ पशुओं का आलंभन होता है। यह मुख्य याग 'प्राजापत्य' है इसमें उपाकरण, विनियोजनादि पशुधर्म 'सन्निपत्त्योपकारक' अंग

है। नियमतः इन दोनों का अनुष्ठान साथ होना चाहिए। यह बात 'वैश्वदेवी' कृत्वा प्राज्ञापत्यैचरन्ति' इस विधायक वाक्य से मिलती है। समस्या यह है कि जितने भी पशु धर्म हैं उनका अनुष्ठान एक काल में हो नहीं सकता क्योंकि पशुओं की संख्या एवं अनुष्ठेय क्रियायें अधिक हैं। अतः प्रवत्तिक्रम का आश्रय लेकर इस समस्या का समाधान किया जा सकता है अर्थात् एक पशु का उपाकरण करके दूसरे पशु का उपाकरण करने से अव्यवधानेन साहित्य हो सकता है। इसी प्रकार एक पशु का नियोजन करके दूसरे का नियोजन करना चाहिये। इस तरह एक पशु से आरम्भ कर सभी पशुओं (१७) में क्रमशः उपाकरण कर उसी क्रम से नियोजनादि करना चाहिये। इसी क्रम को प्रवत्तिक्रम कहते हैं। यह प्रवत्तिक्रम श्रुत्यादि क्रम से निर्बल होता है।

(४७) **कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधको विधिरधिकारविधिः। कर्मजन्यफलस्वाम्यं कर्मजन्यफलभोक्तत्वम्। स च 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादिरूपः। स्वर्गमुद्दिश्ययागं विदधतानेन स्वर्गकामस्य यागजन्यफलभोक्तत्वं प्रतिपाद्यते। 'यस्याहिताग्नेरग्निर्गहान्दहेत्सोग्नये क्षामवतेष्टाकपालं निर्वपेदि'त्यादिनाग्निदाहादौ निमित्तं कर्म विदधता निमित्तवतः कर्मजन्यपापक्षयरूपफलस्वाम्यं प्रतिपाद्यते। एवं 'अहरहः सन्ध्यामुपासीते' त्यादिना शुचिविहितकालजीविनः संध्योपासनजन्य-प्रत्यवायपरिहाररूपफलस्वाम्यं बोध्यते।**

'यागादि कर्म से उत्पन्न होने वाले स्वर्गादि फल के स्वामित्व का ज्ञान कराने वाली विधि अधिकारविधि है। कर्म से उत्पाद्य फल के स्वामित्व का अर्थ है कर्म से उत्पाद्य फल का भोक्ता होना। ओर उस अधिकारविधि का रूप है–स्वर्गकामो यजेत–आदि। स्वर्ग को लक्ष्य करके याग का विधान करने वाले इस वाक्य के द्वारा स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष के यागजन्य फल का भोक्तत्व का प्रतिपादन होता है। 'जिस अग्न्याधान करने वाले पुरुष पर अग्नि जला दे, वह पुरुष क्षीण हो गये अग्नि को आठ कपालों में पकाया गया पुरोडाश समर्पित करे। आदि मन्त्रों के द्वारा अग्निदाह आदि निमित्त उपस्थित होने पर कर्म का विधान करते हुए निमित्तवान् पुरुष के अष्टाकपालनिर्वपनरूप कर्मजन्य पापक्षयरूप फल का स्वामित्व प्रतिपादित किया जाता है। इसी प्रकार 'प्रतिदिन सन्ध्योपासना करे' इत्यादि वाक्यों के द्वारा पवित्र एवं शास्त्रानुमोदित्तरीति से जीवनयापन करने वाले पुरुष के सन्ध्योपासन से जन्य पापनिवारणरूप फल के स्वामित्व का ज्ञान कराया जा रहा है।

विशेष :- कर्मफल के स्वामित्व का बोध कराने वाली विधि अधिकार विधि होती है।

अनुष्ठान कर्मो के क्रमादि की निरूपण विवेचना के बाद यह स्वाभाविकी जिज्ञासा होती है कि इन कर्मो के अनुष्ठान का अधिकारी कौन है ? इसका समाधान महर्षि जैमिनि ने मीमांसादर्शन के षष्ठाध्याय में अधिकारविधि की आलोचना करके दिया है। कुछ विचारकों ने प्रयोगविधि निरूपण के पूर्व ही अधिकारविधि सम्बन्धी चर्चा की है। यह संगत नहीं है। क्योंकि क्रमविशिष्ट अनुष्ठेय पदार्थ के ज्ञान के अनन्तर ही अधिकारी की जिज्ञासा होती है।

अतः अधिकारविधि द्वारा विशेषतया 'अधिकार' का बोध होता है। यहाँ अधिकार से तात्पर्य 'फल' का है। अतः फलसम्बन्धी विधि ही अधिकार विधि होती है। फल का भोक्ता यजमान अर्थात् याग अनुष्ठान कर्त्ता ही होता है। प्रत्येक याग के अनुष्ठान की क्षमता सबमें नहीं होती है। अनुष्ठान में प्रवत्ति सामर्थ्य से उत्पन्न होती है। अतः शास्त्रकारों ने यह स्पष्टतः निरुपित किया है कि याग विशेष का अनुष्ठान उपयुक्त विशेषणों से युक्त पुरुष ही कर सकता है यागजन्य फल का भोक्ता अधिकारी ही हो सकता है। 'यजेत स्वर्गकामः' इस विधिवाक्य से 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' यह बोध होता है। यहाँ स्वर्ग रूपी फल के श्रवणमात्र से पुरुष का अधिकार सिद्ध होता है। परन्तु जहाँ 'फल' का श्रवण नहीं है, तथा फल की कल्पना भी नहीं की जा सकती ऐसे नित्य, नैमित्तिक कर्मों में पुरुष का अधिकार कैसे होगा ? इस शंका का समाधान "यस्याहिताग्नेरग्निर्गहान् दहेत् सोग्नये क्षामवते....प्रतिपाद्यते' इत्यादि वाक्य से किया है। भाव यह है कि–इस विधिवाक्य द्वारा निर्वाप का अधिकार उस आहिताग्नि (व्यक्ति) को है जिसका गह अग्नि ने जला दिया हो। यहाँ 'गहदाह निमित्त कारण है एवं 'आहिताग्नित्व' अधिकारी का विशेषण है। गहदाह वस्तुतः पाप का सूचक है जो पुरोडाश निर्वाप (याग) द्वारा नष्ट हो जाता है अतः यजनकर्त्ता 'निर्वापजन्यपापक्षयरूप फल' का अधिकारी हो जाता है। 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' नित्यकर्म में अधिकर विधि का उदाहरण है। सन्ध्योपासनादि नित्य कर्मों के अनुष्ठान से प्रत्यवाय होता है परन्तु शास्त्र विहित कर्मों का अनुष्ठान करते हुए शुचितापूर्ण जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति अनुष्ठान का फल अवश्य पाता है अतः नित्य नैमित्तिक कर्मों में फलश्रवण नहीं है यह शंका निर्मूल है।

(४८) **तच्च फलस्वाभ्यं तस्यैव योधिकारविशिष्टः, अधिकारश्च स एव यद्विधिवाक्येषु पुरुषविशेषणत्वेन श्रूयते। यथा काम्ये कर्मणि फलकामना, नैमित्तिके कर्मणि निमित्तनिश्चयः, नित्ये संध्योपासनादौ शुचिविहितकालजीवित्वम्। अत एव 'राजराजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'त्यनेन विधिवाक्येन स्वाराज्यमुद्दिश्य विदधतापि न स्वाराज्यमात्रकामस्य तत्फलभोक्तत्वं प्रतिपाद्यते, किंतु राज्ञः सतः स्वराज्यकामस्यैव, राजत्वस्याप्यधिकारिविशेषणत्वेन श्रवणात्।**

और वह फल का भोक्तृत्व उसी का होता है जो अधिकार से विशिष्ट होता है, और अधिकार वही है जो विधिवाक्यों में पुरुष के विशेषण के रूप में उक्त होता है। जैसे काम्यकर्म में फलकामना, नैमित्तिक कर्म में निमित्त का निश्चय, और नित्य कर्म कर्म संध्योपासन आदि में पवित्र एवं शास्त्रानुमोदित समय–यापन करना। इसीलिये 'स्वाराज्य की कामना वाला राजा राजसूय याग सम्पन्न करे' यह विधिवाक्य स्वाराज्य को लक्ष्य करके याग का विधान करता हुआ भी केवल स्वाराज्य के इच्छुक व्यक्ति के लिये उसके फल का भोक्तत्व प्रतिपादन नहीं करता है, अपितु 'राजा होते हुए स्वराज्य की कामना करने वाले के लिये ही, क्योंकि (यहाँ) राजा होना भी अधिकारी के विशेषण के रूप में उक्त है।

विशेष :- फलविधि के द्वारा बोधित फल का भोक्ता कोई भी व्यक्ति नहीं हो सकता।

ग्रन्थकार ने कहा है कि जो व्यक्ति अधिकार विशिष्ट होता है वही कर्मानुष्ठानजन्य फल का भोक्ता होता है। अधिकारी पुरुष के विशेषण को ही अधिकार कहते हैं। 'यजेत स्वर्गकामः' में स्वर्गरूपी फल की कामना करने वाला पुरुष ही अधिकारी है और स्वर्गकामना अधिकार है। कर्मानुष्ठानजन्य जितनी भी विशेषताओं की अपेक्षा होती है यजनकर्त्ता पुरुष में उन सबका होना आवश्यक है। अतएव 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इस वाक्य में विशेषण रूप से दो पद 'राजा' एवं 'स्वराज्यकामः' प्रयुक्त है। राजसूययाग करने का अधिकारी वही हो सकता है जो स्वराज्यकामी होने के साथ साथ उसे पहले से राजा भी हुआ हो।

(४६) क्वचितु पुरुषविशेषणत्वेनाश्रुतमप्यधिकारिविशेषणम्। यथाध्ययनविधिसिद्धा विद्या, क्रतुविधीनामर्थज्ञानापेक्षणीयत्वेनाध्ययनविधिसिद्धार्थज्ञानवन्तं प्रत्येव प्रवत्तेः एवमग्निसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमत्ता। अग्निसाध्यकर्मणामग्न्यपेक्षत्वेन तद्विधीनामाधानसिद्धाग्निमन्तं प्रत्येव प्रवत्तेः।

एवं सामर्थ्यमपि। 'आख्यातानामर्थ ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी'ति न्यायात् समर्थं प्रत्येव विधिप्रवत्तेः। तदेवं निरूपितो विधिः।

कहीं–कहीं पुरुष के विशेषण के रूप में उक्त न होने वाला भी अधिकारी का विशेषण होता है, जैसे ('स्वाध्यायोध्येतव्यः इस) अध्ययन की विधि से सिद्ध विद्या, क्योंकि यज्ञ सम्बन्धी विधियों की अर्थज्ञान की अपेक्षा होने से अध्ययनविधि से प्राप्त अर्थ का ज्ञान रखने वाले के प्रति ही प्रवत्ति होती हैं। इसी प्रकार अग्नि से सिद्ध होने वाले कर्मों में आधान से सिद्ध अग्निमत्ता अपेक्षित होती है, क्योंकि अग्नि से सम्पाद्य कर्मों को अग्नि की अपेक्षा होने से उनके विधायक वाक्यों की प्रवत्ति आधान से सिद्ध अग्नि वाले के लिये ही होती है।

इसी प्रकार सामर्थ्य भी जो कि विधिवाक्यों में उक्त नहीं होता है, अधिकारी के विशेषण के रूप में अपेक्षित होता है। 'अर्थ को कहने वाले वाले आख्यातों की शक्ति–सामर्थ्य–सहायिका होती है।' इस नियम से समर्थ के प्रति ही विधि की प्रवत्ति होती है। इस प्रकार विधि का निरूपण हुआ।

विशेष :- जिस विधि वाक्य में फल के स्वामी का विशेषण श्रुत न हो तो वहाँ निश्चय कैसे हो ? इस विषय में ग्रन्थकार का मत है कि वहाँ विशेषण का आक्षेप कर लिया जाता है। जैसे क्रतुविधायक विधियों में 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस अध्ययनविधि द्वारा विहित विद्या को अधिकारी पुरुष का विशेषण माना जाता है यद्यपि यह 'श्रुत' नहीं है। क्रतु का अधिकार उसी को है जिसने अर्थज्ञानपूर्वक वेदाध्ययन किया हो। अतः क्रतुविधियों की प्रवत्ति भी स्वभावतः ऐसे पुरुष के प्रति होती है जिसने विधिवत् वेदाध्ययन किया हो। वेदाध्ययन के पूर्व त्रैवर्णिकों के उपनयन का विधान 'अष्टवर्ण ब्राह्मणमुपनयीत। एकादशवर्ष राजन्यम्। द्वादशवर्ष वैश्यम्।' तथा 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यम् शरदि वैश्यम्' आदि वाक्यों से किया गया है। अतः सम्प्रदाय की मान्यतानुसार उपनयन एवं वेदाध्ययन एवं यज्ञ का अधिकार केवल त्रैवर्णिको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्यों को है।

इस प्रसंग में यह भी स्पष्टतया कहा गया है कि अग्न्याधान से जिसने अग्नि का लाभ किया है वह व्यक्ति ही अग्निसाध्य कर्म में अधिकारी हो सकता है अन्य व्यक्ति नहीं। अत एव ग्रन्थकार ने कहा है–'एवमग्रिसाध्यकर्मसु आधानसिद्धाग्निमात्ता। निष्कर्ष यह है कि अग्निसाध्य कर्मों की प्रवृत्ति ऐसे व्यक्ति के प्रति होगी जो शास्त्रोक्त विधि से आहिताग्नि बना हो।

उपरलिखित विशेषणों के अतिरिक्त यज्ञ कर्म का अनुष्ठान करने के सामर्थ्य को भी विशेषण माना जाता है। जिस व्यक्ति में इन्द्रियादि अपाटव होगा वह यज्ञ का अधिकारी नहीं हो सकता।

यह सिद्धान्त 'आख्यातानामर्थे ब्रुवतां शक्तिः सहकारिणी' इस न्याय पर आधारित है जिसमें समर्थ अधिकारी को उद्देश्य करके विधि की प्रवृत्ति मानी गई है।

(५०) प्रयोगसमवेतार्थस्मारका मन्त्राः। तेषां च तादशार्थस्मारकत्वेनैवार्थवत्त्वम्। नतु तदुच्चारणमदष्टार्थम्,

संभवति दष्टफलकत्वेदष्टफलकल्पनामा अन्याप्यत्वात्, न च दष्टस्यार्थस्मरणीय प्रकारान्तरेणापि संभवान्मन्त्राम्नानं व्यर्थमिति वाच्यम्। मन्त्रैरेव स्मर्तव्यमिति नियमविध्याश्रयणात्।

कर्मानुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ द्रव्य, देवता आदि का स्मरण कराने वाला वेद भाग मन्त्र है। उस प्रकार के अर्थ के स्मारक के रूप में ही उन मन्त्रों की सार्थकता है। उन मन्त्रों का उच्चारण अदष्ट प्रयोजन के लिये नहीं है, क्योंकि दष्टफल की संभावना रहते अदष्ट फल की कल्पना अनुचित है। यह भी नहीं कहना चाहिये कि दष्ट प्रयोजन का स्मरण दूसरे साधनों से हो सकता है इसलिये मन्त्र का उच्चारण निरर्थक है, क्योंकि 'मन्त्रों से ही द्रव्य, देवता आदि का स्मरण करना चाहिये' यहाँ नियमविधि का आश्रम लिया गया है।

विशेष :- साङ्गोपङ्ग विधि भाग की प्रयोजनीयता विधायक रूप में प्रतिपादित करके 'विधिमन्त्रनामधेयनिषेधार्थवाद' रूप में पचधा विभक्त वेद के द्वितीय भाग मन्त्र की मीमांसा करने में ग्रन्थकार प्रवत्त हुआ है। मन्त्र का लक्षण है–'प्रयोगसमवेत्तार्थ– स्मारकाः मन्त्राः' तत्तत् कर्मानुष्ठान काल में अनुष्ठेय क्रिया एवं तदङ्गभूत द्रव्य देवतादि का प्रकाशन मन्त्र द्वारा ही होता है अतः मन्त्र का प्रयोजन स्वतः सिद्ध है। 'स्मत्वा कर्माणि कुर्वीत' इस विधायक वाक्य द्वारा भिन्न–भिन्न कर्मो के अनुष्ठानकाल में 'स्मरण' विहित है। यह स्मरण यद्यपि उपायान्तर से भी हो सकता है तथापि उपायान्तर के अवलम्बन से तत्तत् प्रकरणों में पठित मन्त्र व्यर्थ हो जायेंगे अतः 'मन्त्रैरेव स्मत्वा कर्माणि कुर्यादिति (मन्त्रों से ही स्मरण करके कर्म करना चाहिये) यह नियमविधि द्वारा स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार विधि का प्रयोजन जिस तरह विधायकत्व में है उस तरह मन्त्र का प्रयोजन 'स्मारकत्व' में है।

यहाँ शंका यह होती है–यद्यपि मन्त्र मुख्यतः प्रयोगस्मारकत्व प्रयोजन की सिद्धि करते हैं तथापि कहीं–कहीं 'प्रयोग समवेतत्व' नहीं मिलता। यथा–'देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेश्विनोर्बाहुभ्यां पुष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र में 'कर्म समवेत' अग्नि देवता की प्रकाशकता रहते हुए भी 'सविता' एवं 'पूषन्' के लिये प्रयोगसमवेत नहीं है जब कि 'प्रकाशकत्व' इनमें भी है। अतः इनका प्रयोजन अदष्टार्थक ही मानना चाहिये क्योंकि मन्त्र के एकांश से दष्ट प्रयोजन और तद्भिन्नांश से अदष्ट प्रयोजन की सिद्धि हो, यह विरूपता ठीक नहीं है। अतः सभी मन्त्रों को अदष्टार्थक ही मानना चाहिये। परन्तु यह पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि दष्टफल के साक्षात् उपलब्ध होने पर अदष्टफल की कल्पना उचित नहीं है। यहाँ मन्त्रोच्चारण का दष्टफल 'स्मरणात्मक' रूप है। अतः पुण्योत्पत्तिरूप अदष्टफल मानना तर्कसंगत नहीं है।

पूर्वपक्ष द्वारा यह संशय किया जा सकता है कि मन्त्र का प्रयोजन 'प्रयोग स्मारकत्व' ही है तो स्मरणरूप व्यापार अन्य प्रकार से भी अर्थात् ब्राह्मणवाक्यों द्वारा भी किया जा सकता है। मन्त्र को अदष्टार्थक ही रहने दिया जाये। परन्तु यह कथन भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि 'मन्त्रैरव स्मर्त्तव्यम्' नियमविधि द्वारा मन्त्रों से ही प्रयोग स्मरण उचित है।

(५१) नानासाधनसाध्यक्रियायामेकसाधनप्राप्तावप्राप्तस्यापरसाधनस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः। यथाहुः 'विधिरत्यन्तमप्राप्ता। नियमः पाक्षिके सति। तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयत' इति। अस्यार्थः -प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिपूर्वविधि, यथा 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिः। स्वर्गार्थकयागस्य प्रमाणान्तरेणप्राप्तस्यानेन विधानात्।

पक्षेप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः, य था 'व्रीहीनवहन्ती'त्यादिः। कथमस्य पक्षेप्राप्तप्रापकत्वमिति चेदित्यम्। अनेन ह्यवघातस्य वैतुष्यार्थत्वं न प्रतिपाद्यतेन्वयव्यतिरेकसिद्धत्वात्, किंतु नियमः। स चाप्राप्तांशपूर्णम्। वेतुष्यस्य हि नानोपायसाध्यत्वाद्यदावघातं परित्यज्य उपायान्तरं ग्रहीतुमारभते, तदावघातस्याप्राप्तत्वेन तद्विधाननामकमप्राप्तांशपूरणमेवानेन विधिना क्रियते। अतश्च नियमविधावप्राप्तांशपूरणात्मको नियम एव वाक्यार्थः। पक्षेप्राप्तावघतस्य विघानमिति यावत्।

अनेक उपायों से सम्पाद्य क्रिया में एक साधन प्राप्त होने पर दूसरे अप्राप्त साधन को प्राप्त कराने वाला विधायक वाक्य नियमविधि है। जैसा कहा गया है–अत्यन्त अप्राप्त अर्थात् दूसरे प्रमाणसे जिसका ज्ञात नहीं होता है उसका विधान करने वाली विधि को अपूर्व विधि कहते हैं, पक्ष में अप्राप्त की प्रापक को नियमविधि तथा वहाँ और अन्यत्र भी परिसंख्या का विधान है। इसका अर्थ है कि दूसरे से अप्राप्त अर्थ की प्रापक विधि अपूर्वविधि है। जैसे–'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादि। दूसरे प्रमाण से अप्राप्त स्वर्गरूप प्रयोजन को सिद्ध करने वाले याग का विधान इस विधि से होता है।

पक्ष में अप्राप्त को प्राप्त कराने वाली विधि नियमविधि है। जैसे 'ब्रीहिन् अवहन्ति' इत्यादि। 'पक्ष में अप्राप्त की प्रापकता इसकी कैसे है ?' यदि यह प्रश्न हो तो इस प्रकार का उत्तर है। इस विधि के द्वारा अवघात की वैतुष्यार्थकता–भूसी को अलग करना रूप उद्देश्य–नहीं प्रतिपादित की जा रही है, क्योंकि (वैतुष्यकर्म) अन्वय और व्यतिरेक से सिद्ध हो ही जाता है, अपितु यहाँ नियम प्रतिपादित है। नियम कहते हैं अप्राप्त अंश की पूर्ति को। तुषविमोचन अनेक साधनों से संभव होने से यह अवघात को छोड़कर कोई दूसरे उपाय को ग्रहण करने लगता है, तब अवघात के अप्राप्त होने से उसके विधान नामक अप्राप्त अंश

की पूर्ति ही इस विधि के द्वारा की जाती है। इसलिये नियमविधि में अप्राप्त अंश का पूर्तिरूप नियम ही वाक्य का अर्थ होता है, क्योंकि इससे पक्ष में अप्राप्त अवघात का विधान किया जाता है।

उभयोश्च युगपत्प्राप्तावितरव्यावत्तिपरो विधिः परिसंख्याविधिः। यथा-'पच पचनखा भक्ष्या' इति। इदं हि वाक्यं न पचनख भक्षणपरं, तस्य रागतः प्राप्तत्वात्। नापि नियमपरं, पचनखभक्षणस्य युगपत्प्राप्तेः पक्षेप्राप्त्यभावात्। अत इदमपचनखभक्षणनिवत्तिपरमिति भवति परिसंख्याविधिः।

दोनों विधानों के एक साथ प्राप्त होने पर एक की निवारकविधि को परिसंख्याविधि कहते हैं। जैसे—'पच०'—पाँच नाखूनों वाले पाँ ही प्राणी भक्ष्य हैं।' यह वाक्य पचनख के भक्षण का विधायक नहीं है, क्योंकि भक्षण की प्राप्ति स्वभाव से ही होती है। और न तो नियमपरक—अप्राप्त अंश का पूरक—ही हैं, क्योंकि पाँच पाँचनखों वाले प्राणियों की एक साथ प्राप्ति होने से पक्ष में एक की अप्राप्ति नहीं है। इसलिये यह वाक्य पाँच नख न रखने वाले प्राणियों के भक्षण की निवत्ति करता है, अतः परिसंख्या विधि है।

सा च द्विविधा-श्रौती लाक्षणिकी चेति। तत्र 'अत्र ह्येवावपन्ती' ति श्रौती परिसंख्या। एवकारेण पवमानातिरिक्तस्तोत्रव्याव त्तेरभिधानात्। 'पच पचनखा भक्ष्या' इति तु लाक्षणिकी। इतरनिवत्तिवाचकपदाभावात्। अत एवैषा त्रिदोषग्रस्ता।

वह परिसंख्या दो प्रकार की है—श्रौती और लाक्षणिकी। इन दोनों में 'अत्र ह्येवावपन्ति'—यहाँ पर ही आवाप करते हैं' इस में श्रौती परिसंख्या है। 'एव' के द्वारा पवमान से अतिरिक्त स्तोत्र की निवत्ति का अभिधा से कथन है। 'पच पचनखा भक्ष्याः, यह तो लाक्षणिकी है, क्योंकि इसमें अनपेक्षित क्रिया की व्यावत्ति का वाचक पद नहीं है। इसी से यह तीन दोषों से युक्त होती है।

विशेष :- विधिभाग के निरूपणावसर पर प्रसंग के अभाव में नियमविधि का उल्लेख नहीं दिया गया है। सम्प्रति प्रसंग प्राप्त होने पर 'नियमविधि' का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। लौगाक्षिभास्कर ने विषयावबोध की दष्टि से कुमारलिभट्ट कृत तन्त्रवार्तिक से एक कारिका उद्धत की है जिसमें अपूर्वविधि, नियमविधि एवं परिसंख्याविधि का लक्षण उल्लिखित है। 'प्रमाणान्तर' से अत्यन्त अप्राप्त अर्थ को जो प्राप्त करा देती है उसे अपूर्वविधि कहते हैं। इसी को भट्ट पाद ने 'अत्यन्तमप्राप्ते विधिः' कहा है एवं अर्थसंग्रहकार ने विशदार्थ करके 'प्रमाणान्तरेण अप्राप्तस्य प्रापको विधिः' लिखा है। जैसे 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्यों में अत्यन्तमप्राप्त याग का विधान स्वर्गप्राप्ति हेतु किया गया है। 'अप्राप्त' से 'अज्ञात' एवं 'प्रापक' से 'ज्ञापक' का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

उद्धत कारिका में 'नियमः पाक्षिके सति' अंश 'नियमविधि' के लक्षण एवं स्वरूप पर विचार करता है। इसकी व्याख्या लौगाक्षिभास्कर ने 'पक्षे अप्राप्तस्य प्रापको विधिः नियमविधिः की है। 'नियमस्य पक्षे अप्राप्तप्रापकत्वम्। को 'व्रीहीनवहन्ति' द्वारा समझा जा सकता है। व्रीहि से तुषविमोक, नखविदलन अश्मकुट्टन एवं अवहनन से किया जा सकता है। अतः तुषविमोक रूपी साध्य क्रिया के कई साधन उपलब्ध हैं। अब यदि नख विदलन या अश्मकुट्टन द्वारा तुषविमोक किया जाने लगे तो 'अवहनन' अप्राप्त हो जाता है। इस प्रकार 'व्रीहीनवहन्ति' यह नियमविधि अप्राप्त साधन अवघात का विधान करती है।

जहाँ पर कोई क्रिया रागतः तथा शास्त्रतः दोनों ओर से एक साथ प्राप्त होती है वहाँ उस क्रिया से भिन्न क्रिया का निवर्तन कराने वाला वाक्य परिसंख्या है। उदाहरणार्थ, 'पच पच नखाः भक्ष्याः'। मांसभक्षी लोग पचनख और अपचनख दोनों ही प्रकार के जीवों का भक्षण करते हैं। दूसरी ओर 'पच पचनखाः भक्ष्याः' शास्त्र से प्राप्त है। इस प्रकार पचनख भक्षण क्रिया रागतः और शास्त्रतः दोनों ओर से प्राप्त है। इस स्थिति में पचनख भक्षण की प्रव त्ति से भिन्न अपचनखभक्षण से निवत्ति का प्रतिपादन करना परिसंख्या है।

वह परिसंख्या श्रौती और लाक्षणिकी भेद से दो प्रकार की होती है जिसमें व्यावर्तक पद पाठतः उपस्थित होता है उसको श्रौती कहते हैं। जैसे—"अत्र ह्येव आवपत्ति" में एव पद श्रुत है, वाक्य में पठित है। यहाँ पठित 'एव' पद पवमान स्तोत्र से अन्यत्र आवाप का व्यावर्तक है। जहाँ वाचक पद का शब्दतः कथन नहीं होता वहाँ निवत्ति का बोधन लक्षणाशक्ति से कराया जाता है। अतः इसका नाम लाक्षणिकी है। "पच पच नखा भक्ष्याः' इसका उदाहरण है। इसके श्रुतहानि, अश्रुत कल्पना एवं प्राप्तबाध में तीन दोष होते हैं।

(५२) दोषत्रयं च श्रुतिहानि-रश्रुतकल्पना प्राप्तबाधश्चेति। तदुक्तम्-'श्रुतार्थस्य परित्यागादश्रुतार्थस्य कल्पनम्। प्राप्तस्य बाधादित्येवं परिसंख्या त्रिदूषणा' इति। श्रुतस्य पचनखभक्षणस्य हानात्, अश्रुतापचनखभक्षणनिवत्तेः कल्पनात्, प्राप्तस्य चापचपचनखभक्षणस्य बाधनादिति। अस्मिंश्च दोषत्रये दोषद्वयं शब्दनिष्ठम्। प्राप्तबाधस्त्वर्थनिष्ठ इति दिक्।

येषां तु प्रयोगसमवेतार्थस्मारकत्वं न संभवति तदुच्चारणस्यानन्यगत्यादष्टार्थकत्वं कल्प्यत इति नानर्थक्यमिति।

तीनों दोष हैं—धत हानि, अश्रुतकल्पना और प्राप्तबाध। यह कहा गया है—'श्रुत अर्थ का परित्याग करने से अश्रुत अर्थ की कल्पना करने से और राग या प्रमाणान्तर से प्राप्त अर्थ का वाध होने से परिसंख्या तीन दोषों से युक्त होती है।' श्रुत पचनखभक्षण के परित्याग से, अश्रुत पचनखभक्षण की निवत्ति की कल्पना से, और प्राप्त अपचनखभक्षण अर्थात् अनुमोदित पाँच पचनखों के अतिरिक्त अन्य पचनखों के भक्षण के बाधन से यह है। इन तीन दोषों में से दो दोष शब्दनिष्ठ हैं। प्राप्तबाध तो अर्थनिष्ठ है। यह प्रतिपादन का अभिप्राय है।

जिनके अनुष्ठान से सम्बद्ध अर्थ की स्मारकता सिद्ध नहीं होती है, उनके उच्चारण की, और कोई गति न होने से, अदष्टार्थकता कल्पित की जाती है, इसलिये उनकी व्यर्थता नहीं है।

विशेष :- परिसंख्या के द्वितीय प्रभेद लाक्षणिकी के तीन दोषों की गणना—श्रुतहानि, अश्रुत कल्पना एवं प्राप्तबाध रूप में की गई है। इन तीनों का स्वरूप 'पचपचनखाभक्ष्याः' इस एक दष्टान्त से ही स्पष्ट हो जाता है। प्रथमतः इस वाक्य में 'पचपचनखभक्षण' का विधान प्रतीत होता है परन्तु इसका स्वीकृत अर्थ 'पचातिरिक्तपचनखभक्षण निवृत्ति' रूप है अतः 'श्रुत' अर्थ का यहाँ परित्याग किया गया है। द्वितीयतः पचातिरिक्तपचनखभक्षणनिवत्तिपरक' कोई भी पद इस वाक्य में नहीं है तथापि तादश अर्थ की कल्पना करनी पड़ती है अतः 'अश्रुतार्थप्रकल्पनम्' नामक दोष भी आ गया है। ततीयतः 'पचपचनखा भक्ष्याः' इस परिसंख्यापरक दटान्त में पचपचनख भक्षण एवं तदितर भक्षण दोनों ही रागतः प्राप्त होने पर एक की निवत्ति कर दी जाती है। अतः प्राप्तबाध दोष भी आ जाता है।

इन तीनों दोषों में श्रुतहानि एवं अश्रुत कल्पना को शब्दनिष्ठ कहा जाता है क्योंकि इनमें शब्द अपने अभिधेयार्थ का परित्याग कर देता है। प्राप्त बाध का सम्बन्ध शब्द से न होकर 'अर्थ' से है अतः इस दोष को अर्थनिष्ठ कहा गया है।

प्रसंगतः प्राप्त अपूर्व विधि, नियमविधि एवं परिसंख्याविधि का निरूपण करके ग्रन्थकार ने उपसंहार करने की दष्टि से "येषां तु................" इत्यादि पंक्तियों में 'मन्त्रमीमांसा' प्रकरण की चर्चा की है। इससे पूर्व यह कहा गया है कि मन्त्र का प्रयोजन अनुष्ठान के प्रयोगों का स्मरण कराना है। परन्तु कुछ मन्त्र ऐसे हैं जिनमें यह सामर्थ्य नहीं होता, यथा 'कवचाय हुम्, नेत्रत्रयाय वौषट्' 'अस्त्राय फट्' आदि। अतः क्या इन मन्त्रों को अनर्थक मान लिया जाय ? मीमांसक की दष्टि से इन्हें अनर्थक नहीं माना जाता क्योंकि इनसे 'अदष्टार्थ' प्रयोजन सिद्ध होता है। भाव यह है कि 'स्वाध्यायोध्येतव्य' इस विधिवाक्य से समस्त वेद का ग्रहण हो जाता है सिद्धान्ततः वेद का कोई भी अंश निष्प्रयोजन या तत्त्वार्थशून्य नहीं होता है। अतः इन मन्त्रों के उच्चारण से यद्यपि 'प्रयोग समवेत स्मारकत्व' रूपी बात सिद्ध नहीं होती तथापि इनमें 'अदष्टार्थकता' विद्यमान है।

(५३) नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्त्वम्। तथा हि-'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यत्रेद्भिच्छब्दो यागनामधेयं, तेन च विधेयार्थपरिच्छेदः क्रियते। तथा हि-अनेन वाक्येनाप्राप्तत्वात्फलोद्देशेन यागो विधीयते। यागसामान्यस्याविधेयत्वात् यागविशेष एव विधीयते। तत्र कासौ यागविशेष इत्यपेक्षायामुद्भिच्छब्दादुद्भिद्रूपो याग इति ज्ञायते। 'उद्भिदा यागेन पशुं भावयेदि'त्यत्र सामानाधिकरण्येन नामधेयान्वयात्।

सम्पाद्य कर्म का अन्यों से व्यावर्तक होने से नामधेय सार्थक है। जैसे कि 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' इसमें उद्भिद् शब्द याग का नाम है, जिसके द्वारा विवेक कर्म का अन्यों से व्यावर्तन कराया जाता है। अर्थात् दूसरे प्रमाणों से प्राप्त न होने के कारण इस वाक्य के द्वारा पशुरूप फल को लक्ष्य करके याग का विधान किया जाता है। यागसामान्य का विधान संभव न होने से यागविशेष का ही विधान किया जाता है। 'वह याग—विशेष क्या है ? इसकी अपेक्षा होने से उद्भिद् शब्द से उद्भिरूप याग ज्ञात होता है। 'उद्भिद् याग से पशु की भावना करे' इसमें सामानाधिकरण्य से नामधेय का अन्वय होता है।

नामधेयत्वं च निमित्तचतुष्टयात्। मत्वर्थलक्षणाभयाद्वाक्यभेदभयासत्प्रख्यशास्त्रात्तद्व्यपदेशाच्चेति।

इससे पूर्व विधिनिरूपण एवं मन्त्र मीमांसा की जा चुकी है। सम्प्रति क्रमप्राप्त नामधेय के प्रयोजन पर विचार किया जा रहा है। नामधेय वस्तुतः विधि, मन्त्र, निषेध एवं अर्थवाद से स्वरूपतः भिन्न हैं। विध्यादि में वेद वाक्य को लेकर जहाँ चर्चा उपलब्ध होती है, नामधेय में कतिपय नामों से जुड़े हुए विशेष भागों की आलोचना दष्टिगोचर होती है। समग्र नामधेय प्रकरण का सार भूत तत्त्व 'उद्भिदा यजेत पशुकामः' 'चित्रया यज्ञेत पशुकामः, 'अग्निहोत्रं जुहोति' एवं 'श्येनेनाग्निचरन् यजेत्' इन चार वाक्यों में निहित है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' इस जैमिनि सूत्रानुसार समसत वेदवाक्यों को प्रयोजनीयता याग में निहित है। अतः उद्भिद् एवं चित्रा आदि व्यक्तिवाचक संज्ञाओं को प्रयोजन व विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि ये नाम यज्ञ विशेष में प्रयुक्त होने वाली क्रिया से उसके सजातीय एवं विजातीय पदार्थों का पार्थक्य अवगत कराते हैं इसी

को 'विधेयार्थ परिच्छेद' पद से निर्दिष्ट किया है। यथा उद्‌मिदा यजेत पशुकामः पशुरूपकफल के उद्देश्य से याग का विधान किया गया है। इस याग का ज्ञान किसी अन्य वाक्य से नहीं हो सकता। अतः यह याग वस्तुतः अप्राप्त है और इस वाक्य द्वारा विहित किया जा रहा है। यदि इस वाक्य से उद्‌भिद शब्द हटाकर केवल 'यजेत पशुकामः' रहने दें तो 'यागेन पशुं भावयेत्' यह वाक्यार्थ होगा परन्तु इससे यागसामान्य का विधान हो रहा है जो कि वस्तुतः 'अविधेय' है क्योंकि याग विशेष का नाम अभिहित किये बिना अनुष्ठान सम्भव नहीं है 'उद्‌भिदा' पद द्वारा इसी आकांक्षा की पूत्ति होती है। अतः 'उद्‌भिद्' याग का नामधेय हुआ और यागविशेष का निर्देशक होने से विषेयार्थ परिच्छेद भी हुआ। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि 'उद्‌भिदा यागेन पशुं भावयेत्' इस वाक्य में उद्‌भिद एवं याग का सामानाधिकरण्य भी है क्योंकि दोनों पदों के वचन, विभक्ति एवं लिंग समान हैं।

यह नामधेयत्व चार निमित्तों से हुआ करता है–मत्वर्थलक्षणा के भय से, वाक्यभेद के भय से, तत्प्रख्याशास्त्र से और तद्‌व्यपदेश से।

(५४) तत्र 'उद्‌भिदा पजेत पशुकाम' इत्यत्रोद्‌भिच्छब्दस्य यागनामनाधेयत्वं मत्वर्थलक्षणाभयात्। तथा हि न तावदनेन वाक्येन फलं प्रति यागविधानम्, तं प्रति च गुणविधानं युज्यते, वाक्यभेदापत्तेः। उद्‌भिच्छब्दस्य गुणसमर्पकत्वे च यागस्याप्यप्राप्तत्वात् गुणविशिष्टकर्मविधानं वाच्यम्। 'उद्‌भिदता यागेन पशुं भावयेदि'ति विशिष्टविधौ च मत्वर्थलक्षणेत्युक्तमेव।

चार कारणों से नामधेयत्व होता है– (१) मत्वर्थलक्षणा के भय से, (२) वाक्यभेद के भय से, (३) तत्प्रख्यशास्त्र से, (४) और तद्‌व्यपदेश से। इनमें से 'उद्‌भिदा यजेत पशुकामः' इस वाक्य में उद्‌भिद् शब्द का नामधेयत्व मत्वर्थलक्षणा के भय से है, क्योंकि इस वाक्य–उद्‌भिदा यजेत पशुकामः –से न तो एक ओर पशुरूप फल के लिये याग का विधान मानना संगत है ओर न दूसरी ओर याग के प्रति गुण का विधान ही, क्योंकि एक ही वाक्य से फल और साधन दोनों का विधान मानने पर वाक्यभेद नाम का दोष आ पड़ेगा। उद्‌भिद्–शब्द को गुण का वाचक मानने पर विधेय याग के भी प्रमाणान्तर से प्राप्त न होने के कारण कर्मनिष्पत्ति हेतु गुण से विशिष्ट कर्म का विधान उसका अर्थ मानना पड़ेगा। अतः 'उद्‌भिद् वाले याग से पशु की भावना करे' ऐसी विशिष्टविधि–गुण और कर्म दोनों का एक साथ विधान करने वाली विधि–मानने पर मत्वर्थलक्षणा होगी ही, यह बात कही जा चुकी है।

विशेष :- मत्वर्थ लक्षणा के भय से प्राप्त नामधेयत्व का निवेचन इस प्रकरण में हुआ है।

'उद्‌भिदा यजेत पशुकामः' इस विधिवाक्य में पशुरूप फल को उद्देश्य करके याग का विधान किया गया है। और उस याग को उद्देश्य करके खनित्र (=उद्‌भिद्) रूपी गुण का विधान है। इस प्रकार एक ही 'उद्‌भिदा यजेत पशुकामः' दो वाक्यों का–(१) 'उद्‌भिदा=खनित्रेण यागं भावयेत्' (२) 'यागेन पशुं भावयेत्' का बोधक होता है अतः इस प्रकार की व्याख्या मानने पर वाक्यभेद रूप दोष अपरिहार्थ होगा। इस दोष से मुक्त होने के लिये 'सोमेन यजेत' की तरह प्रकृत वाक्य को भी विशिष्ट विधि का उदाहरण मान लेना चाहिये। तब उद्‌भिदा यजेत पशुकामः वाक्य से 'गुण विशिष्ट कर्म का विधान्' होगा और वाक्य का बोध मत्वर्थलक्षणा का आश्रय करके 'पशुकामः' उद्‌भिद्वता यागेन पशुं भावयेत्' इस प्रकार होगा। परन्तु मत्वर्थलक्षणा भी 'पददोष' में परिगणित है। अन्ततः सिद्धान्ती 'मत्वर्थलक्षणा के भय से 'उद्‌भिद् को यागनामधेय मानकर 'उद्‌मिन्नामकेन यागेन पशुं भावयेत्' यह अर्थ निश्चित करता है। यहाँ याग एवं उद्‌भिद में सामानाधिकरण्य भी है।

(५५) 'चित्रया यजेत पशुकाम' इत्यत्र चित्राशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं वाक्य-भेदभात्। तथा हि न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं संभवति। 'दधि मधु पयो धतं धाना उदकं तण्डुलस्तत्संसष्टं प्राजापत्यमि' त्यनेन गुणस्य विहितत्वात्तद्विशिष्टयागविध्यनुपपत्तेः। यागस्य फलसंबन्धे गुणसंबन्धे च विधीयमाने वाक्यभेदः। तस्माच्चित्राशब्दः कर्मनामधेयम्। तथा च 'चित्रायागेन पशुं भावयेदि'ति सामानाधिकरण्येनान्वयात्र वाक्यभेदः।

प्रकृतेष्टेरनेकद्रव्यत्वेन चित्राशब्दवाच्यत्वोपपत्तिः।

'चित्रया यजेत पशुकामः' इस वाक्य में चित्र शब्द याग का नाम वाक्यभेद के भय से है अर्थात् वाक्यभेद नामक दोष कहीं न हो जाये इसलिये उसके निवारणार्थ चित्राशब्द को याग का नाम माना गया है। जैसे कि यहाँ पर गुणविशिष्ट याग का विधान संभव नहीं है, क्योंकि 'दधि मधु०'–दही, शहद, दुग्ध, धत, भुने यव या लाई, जल और चावल, इनसे युक्त प्रजापति देवताक याग का विधान करे, इस वाक्य से गुण का विधान हो जाने के कारण उस गुण से विशिष्ट याग का विधान संगत नहीं है। याग का फल तथा गुण दोनों से सम्बन्ध मानने पर वाक्यभेद नामक दोष होता है। इसलिये चित्राशब्द कर्म का नामधेय है। इस प्रकार 'चित्रा नामक याग से पशु की भावना करे'। इस अर्थ में सामानाधिकरण्य से अन्वय होने के कारण वाक्यभेद नहीं होगा। प्रकृतियाग में अनेक द्रव्य अपेक्षित होने से चित्राशब्द का नाम उत्पन्न होता है।

विशेष :- वाक्यभेद जन्य दोष के परिहार के लिये 'चित्रया यजेत पशुकामः' को भी नामधेय मानने का विवेचन प्रस्तुत सन्दर्भ में उपन्यस्त किया गया है।

पूर्ववक्षी का कथन है कि 'सोमेन यज्ञेत' 'उद्भिदा यजेत पशुकामः''चित्रया यजेत पशुकामः' सामान्यतः एक जैसे हैं। 'सोमेन यजेत' इस वाक्य में 'मत्वर्थलक्षणा' का आश्रयण 'वाक्य दोष' से बचने के लिये, इससे पूर्व विवेचित किया है। इसे गुणविशिष्ट विधि मानकर 'सोमवता यागेनेष्टं भावयेत् इस प्रकार का अर्थ मीमांसक सम्मत है यह भी निरूपित हुआ है। अतः वाक्य भेदजन्यदोष के परिहार हेतु 'चित्रया यजेत पशुकामः' में चित्रापद को नामधेय न मानकर 'गुण विशिष्ट कर्म विधि' ही मानना ठीक होगा।

सिद्धान्ती इस समाधान से सहमत नहीं है। क्योंकि उसके मत में यहाँ गुणविशिष्ट विधि नहीं हो सकती। (न तावदत्र गुणविशिष्टयागविधानं सम्भवति)। गुणविशिष्ट विधि होने के लिए यह आवश्यक है कि याग एवं द्रव्य दोनों ही 'अप्राप्त' हो। परन्तु 'चित्रया यजेत पशुकामः' वाक्य में चित्र वर्ण रूप गुण विशिष्ट' याग का विधान इसलिये सम्भव नहीं है क्योंकि 'दधि मधु पयो..... प्राजापत्यम्' इत्यादि विधान से गुण एवं प्रजापति देवता विहित है अत गुणविशिष्ट याग का विधान यहाँ नहीं है।

यदि यह माना जाये कि 'चित्रया यजेत पशुकामः' से 'याग' एवं 'गुण' दोनों का विधान है तो वाक्यभेद होगा। क्योंकि दो विधायक वाक्य होंगे–'यागेन पशुं भावयेत्' तथा 'चित्रया दध्यादि चित्ररूपेण गुणेन यागं भावयेत्' अतः 'चित्रा' पद याग का 'नाम' ही मानना ठीक है। इससे 'चित्रा' एवं याग में सामानाधिकरण्य भी बना रहेगा।

'प्रकृतेष्टे–वाच्यत्वोपपत्तिः' वाक्य द्वारा ग्रन्थकार ने 'चित्रा' शब्द के वाच्यार्थ पर विचार किया है। 'चित्रा' का तात्पर्य 'अनेक द्रव्यों' से है। इस याग में 'दध्यादि' अनेक द्रव्यों का विधान है अतः यह याग 'अन्वर्थनामा' है।

तत्प्रख्याशास्त्रन्नामधेयत्वम्

(५६) 'अग्निहोत्रं जुहोती'त्यत्राग्निहोत्रशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तत्प्रख्यशास्त्रात्। तस्य गुण प्रख्यापकस्य प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्, अग्निहोत्रशब्दः कर्मनामधेयमिति यावत्।

नन्वयं गुणविधिरेव कुतो नेति चेन्न। यद्यग्नौ होत्रमस्मिन्निति सप्तमीसमासमाश्रित्य होमाधारत्वेनाग्निरूपो गुणो विधयस्तदा 'यदाहवनीये जुहोती'त्यनेनैवाग्नेः प्राप्तत्वात्तद्विधानानर्थक्यम्। अग्नये होत्रमिति चतुर्थीसमासमाश्रित्य अग्निदेवतारूपगुणोनेन विधीयत इति चेन्न। तद्देवतायाः शास्त्रान्तरेण प्राप्तत्वात्।

'अग्नि होत्रं जुहोति' इस वाक्य में अग्निहोत्र शब्द की कर्मनामधेयता तत्प्रख्यशास्त्र के कारण है। तत्प्रख्यशास्त्र पद का विग्रह है–तस्य प्रख्यापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्–जिसमें 'तस्य' का अर्थ है गुण का, 'प्रख्यापकस्य' का अर्थ है प्रापक, शास्त्र विद्यमान है अतः –अग्निहोत्रशब्द कर्म का नामधेय है।

यहाँ शङ्का होती है कि यह वाक्य गुणविधि ही क्यों न माना जाये, तो उत्तर है कि नहीं। क्योंकि यदि अग्निहोत्र शब्द का 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्'–जिस अग्नि में होम किया जाता है–इस प्रकार के सप्तमी समास का आश्रय लेकर होम के आधार के रूप में अग्निरूपी गुण का विधान किया जाता है तो 'यदाहवनीये जुहोति'–जब आहवनीय नामक अग्नि में हवन करता है–इस वाक्य से ही अग्नि की प्राप्ति हो जाने से दूसरे वाक्य 'अग्निहोत्रं जुहोति' आदि के द्वारा भी उसी का पुनः विधान व्यर्थ होगा। 'अग्नये होत्रम्'–अग्निदेव के लिये होम है–इस प्रकार से चतुर्थी समास का आश्रय लेकर अग्निदेवतारूप गुण का विधान यदि इस वाक्य से माना जाये तो भी ठीक नहीं होगा क्योंकि उस देवता की प्राप्ति दूसरे शास्त्रवाक्य से हो जाती है।

विशेष :- 'तत्प्रख्यशास्त्र' नामधेय मानने में तीसरा हेतु है। 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य को दष्टान्त मानकर 'तत्प्रख्य शास्त्र' का स्वरूप समझाया गया है। लौगाक्षि भास्कर ने 'तत्प्रख्यशास्त्र' का तात्पर्यार्थ समझाते हुये लिखा है–'तस्य गुणस्य प्रख्यापकस्य=प्रापकस्य शास्त्रस्य विद्यमानत्वात्'। इस कथन का अभिप्राय यह है कि यदि गुण का विधान किसी अन्य शास्त्रीय वाक्य से किया गया हो तो, उस स्थिति में जिस विधि वाक्य पर विचार किया जा रहा हो उसमें गुणबोधक शब्द को कर्म का 'नामधेय' मान लिया जाना मीमांसासिद्धान्त 'तत्प्रख्यशास्त्र' से संगत है।

'अग्निहोत्रं जुहोति' में पूर्वपक्ष की दष्टि से 'अग्निहोत्रम् का अर्थ 'अग्निरूप' है जिसका आधार इस पद की दो प्रकार से विग्रह की सम्भावना है। विग्रह का रूप यह है–

(१) 'अग्नौ होत्रम् अस्मिन्' – होमाधार रूप में अग्नि को गुण मानना।

(२) 'अग्नये होत्रम्' –देवतारूप में अग्नि को गुण मानना।

परन्तु सिद्धान्ती उपरिलिखित समाधान से इसलिये सहमत नहीं है क्योंकि 'अग्नि' का होमाधाररूप में विधान 'यदाहवनीये जुहोति' से तथा देवतारूप में विधान 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस वाक्य से पूर्वतः प्राप्त है। विहित का विधान भी शास्त्रसम्मत नहीं है। अतः 'अग्निहोत्र' नामधेय है।

(५७) किं तच्छास्त्रान्तरमिति चेत्। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'ति केचित्। अपरे तु 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहे'ति मन्त्रवर्ण एवाग्निरूपदेवताप्रापकः।

नन्वग्नेर्मान्त्रवर्णिकत्वे प्रजापतिदेवतया बाधः स्यात्। मन्त्रवर्णस्य चतुर्थीतो दुर्बलत्वात्। यथाहुः -'तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परमि'ति चेन्न। 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोती'त्यत्र न केवलं प्रजापतिविधानम्, किन्तु मन्त्रवर्णप्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतेः। एवं च न बाधः, केवलप्रजापतिविधानाभावात्। न चात्र समुच्चितोभयविधानमेव कथं नेति वाच्यम्। समुच्चितोभयविधानापेक्षयान्यतः प्राप्तमग्निमनूद्य तत्समुच्चितप्रजापतिमात्रविधाने लाघवात्।

एवं प्रयाजेषु समिदादिदेवतानां 'समिधः समिधो अग्न आज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः प्राप्तत्वात्, 'समिधो यजती'त्यादिषु समिदादिशब्दास्तत्प्रख्यशास्त्रात् कर्मनामधेयम्।

देवताचक वह दूसरा शास्त्रवाक्य कौन–सा है, ऐसी शंका होने पर कुछ के अनुसार वह मन्त्र–यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति–यह है, और दूसरों के अनुसार–अग्निर्ज्योतिरग्निः स्वाहा–यह मन्त्रवर्ण ही अग्निरूपदेवता का बोधक है।

यदि शङ्का हो कि अग्नि मन्त्रवर्ण से ज्ञात होता है अतः उसका प्रजापति देवता से बाध होना चाहिये, क्योंकि मन्त्रवर्ण चतुर्थी से दुर्बल होता है, जैसा कहा गया है कि–तद्धित, चतुर्थी अथवा मन्त्रवर्ण से देवता का विधान होता है। इनमें उत्तरोत्तर क्रमशः दुर्बल होता है।' तो उत्तर है कि नहीं। 'यदग्नये च०' आदि मन्त्र में केवल प्रजापति का ही विधान नहीं है अपितु मन्त्र वर्ण से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उसके सहित प्रजापति का विधान है। इस प्रकार बाध नहीं हुआ क्योंकि केवल प्रजापति के ही विधान का अभाव है। "इसमें एक साथ वाले दोनों का ही विधान क्यों न हो," यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सम्मिलित दोनों के विधान की अपेक्षा दूसरे प्रापक वाक्य से प्राप्त अग्नि का अनुवाद करके उससे युक्त प्रजापति का ही विधान करने में गौरव नहीं होगा।

इसी प्रकार प्रयाजों में भी 'समिधः समिधो०' आदि मन्त्रवर्णों से ही समिद् आदि देवताओं के प्राप्त होने से 'समिधो यजति' इत्यादि वाक्यों में समिद् आदि शब्द तत्प्रख्यशास्त्र से कर्म के नामधेय होते हैं।

विशेष :- 'अग्निहोत्रं जुहोति' इस वाक्य की चर्चा के प्रसंग में यह निर्णय किया गया है 'अग्निहोत्र' नामधेय है क्योंकि इसे 'होम का आधार' या 'देवता रूप में अग्निरूप गुण' का बोधक नहीं माना जा सकता। इस मान्यता की पुष्टि में पिछले सन्दर्भ में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है और यह निर्णीत किया गया है कि देवतारूप अग्नि का प्रापक शास्त्रान्तर उपलब्ध है। अतः उस 'शास्त्रान्तर' के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। प्रसंगक्रम से लौगाक्षिभास्कर ने न्यायसुधाकार भट्टसोमेश्वर एवं शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र का मत 'केचित्' एवं 'अपरे' पद संकेत द्वारा उद्धत किया है। इन दोनों के मत का परिशीलन करना आवश्यक है। प्रथम मतानुसार अग्निदेवता का प्रापक वाक्य 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति' है एवं दूसरे पक्ष का 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' माना जाता है। 'अग्निर्ज्योति....' को मन्त्रवर्ण एवं 'यदग्नये च जुहोति....' में 'प्रजापतये' के कारण चतुर्थ्यन्त पद माना गया है। कुमारिलभट्ट ने–

'तद्धितेन चतुर्थ्यां वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः।
देवताया विधिस्तत्र दुर्बलं तु परं परमिति।।

इस कारिका द्वारा यह उपपादित किया है। मन्त्रवर्ण से प्राप्त देवता चतुर्थी से प्राप्त देवता द्वारा बाधित हो जाता है। चतुर्थी विभक्ति से तद्धित प्रबल इसलिये होता है क्योंकि तद्धितान्त में देवता का विधान साक्षात् किया जाता है, चतुर्थ्यन्त में देवता का परम्परा से। परन्तु यह समाधाना सिद्धान्ती के द्वारा अनुमोदित नहीं होता है क्योकि 'यदग्नये प्रजापतये....जुहोति' से केवल प्रजापति का ही विधान मानना ठीक नहीं है अपितु मन्त्रवर्ण से प्राप्त अग्नि का भी अनुवाद मानना चाहिये। आशय यह है कि प्रथमतः 'अग्निर्ज्योति....' इत्यादि मन्त्रवर्ण से अग्नि देवता का विधान होकर तदनन्तर अग्निदेवतायुक्त 'प्रजापति' का विधान 'यदग्नये च प्रजापतये' आदि वाक्य द्वारा सम्पन्न होता है केवल 'यदग्नये च प्रजापतये' द्वारा अग्नि एवं प्रजापति दोनों देवताओं का विधान मानना समुचित नहीं है। क्योंकि इससे एक ही वाक्य द्वारा दो के कार्य का निर्वाह आ जाने पर 'गौरव' होगा तथा 'अग्निर्ज्योति....' इत्यादि मन्त्रवर्ण भी निष्प्रयोजन हो जायेगा जो कि शास्त्रसम्मत इसलिये नहीं है क्योंकि कोई भी मन्त्र निरर्थक नहीं है। अतः लाघव की दष्टि से अग्नि का अनुवाद करके अग्निदेवता युक्त प्रजापति का विधान समुचित है।

पूर्व में प्रयाजादि यागों का विधान 'प्रयाजाः कर्त्तव्याः' इस वाक्य द्वारा है और ये 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति' रूप में आम्नात है। संशय यह है कि इन वाक्यों में समिधः तनूनपातादि पदों से याग के देवताओं का निर्देश है अथवा ये स्वयं याग विशेष के नाम है। इस संशय का समाधान यह है कि इन यागों के देवतादि का निर्देश 'समिधः समिधोग्न आज्यस्य व्यन्तु' इत्यादि मन्त्रवर्ण से पूर्वतः ही प्राप्त है अतः इसको कर्मनामधेय ही मानना चाहिये।

(५८) 'श्येनेनाभिचरन्यजेते'त्यत्र श्येनशब्दस्य कर्मनामधेयत्वं तद्व्यपदेशात्। तेन व्यपदेशादुपमानात्तदन्यथानुपपत्तेरिति यावत्। तथा हि यद्विधेयं तस्य स्तुतिर्भवति। यद्यत्र श्येनो विधेयः स्यात्, तदार्थवादैस्तस्यैव स्तुतिः कार्या। अत्र 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषन्तं भ्रातव्यं निपत्यादत्त' इत्यनेनार्थ श्येनः स्तोतुं न शक्यः, श्येनोपमानेनार्थान्तरस्तुतेः क्रियमाणत्वात्।

न च श्येनोपमानत्वेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेयभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्। यदा तु श्येनसंज्ञको यागो विधीयते तदार्थवादेन श्येनोपमानेन तस्य स्तुतिः कर्तुं शक्यत इति श्येनशब्दः कर्मनामधेयं तद्व्यपदेशादिति।

'श्येनेन अभिचरन् यजेत्' इस वाक्य में श्येनशब्द की कर्मनामधेयता 'तद्व्यपदेश' के कारण है। उसके साथ व्यपदेश अर्थात् उपमान होने से, ऐसा न मानने पर अर्थसंगति नहीं हो सकेगी। जैसे कि जिसका विधान अपेक्षित होता है, उसकी स्तुति होती है। यदि यहाँ श्येन विधेय होगा तो अर्थवादों से उसी की स्तुति की जायेगी। यहाँ "जिस प्रकार वाजपक्षी अपने लक्ष्य को झपट कर ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार यह याग भी अपकारी शत्रु को झपट कर मार देता है" इस अर्थवाद वाक्य से श्येनपक्षी की स्तुति संभव नहीं, क्योंकि यहाँ श्येन की उपमा होने से दूसरे ही पदार्थ की स्तुति की जा रही है।

श्येन की उपमा से उसी श्येन की ही स्तुति नहीं की जा सकती क्योंकि उपमान और उपमेय से ज्ञात पदार्थ पथक् पथक् होते हैं। जब श्येन नामक याग का विधान किया जाता है तब अर्थवाद वाक्य द्वारा श्येन की उपमा देकर उसकी स्तुति की जा सकती है, इस प्रकार श्येन शब्द 'तद्व्यपदेश' से कर्म का नामधेय है।

विशेष :- 'तत्प्रख्यशास्त्र' द्वारा 'अग्निहोत्रं जुहोति' में कर्मनामधेयत्व की स्थापना करके अर्थसंग्रहकार क्रमप्राप्त 'तद्व्यपदेश' द्वारा नामधेय का निर्णय करने में प्रवत्त हो रहे हैं। 'तद्व्यपदेशात्' का पदार्थ विवेचन करते हुये ग्रन्थकार ने लिखा है–

'तेन व्यपदेशादुपमानात्.....।

'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इस दष्टान्त में 'श्चेन' शब्द का लौकिक व्यवहार में 'बाज पक्षी' अर्थ है परन्तु शास्त्रीय दष्टि से 'श्वेन' याग विश्लेष का नाम है। यहाँ प्रश्न यह है कि श्येन का अर्थ 'बाज पक्षी' मानने में हानि क्या है ? इसका उत्तर है 'न च श्येनोपमानेन स एव स्तोतुं शक्यते, उपमानोपमेवभावस्य भिन्ननिष्ठत्वात्।' अर्थात् श्येन की उपमा देकर उसी श्वेन की अर्थवाद द्वारा स्तुति नहीं हा सकती क्योंकि उपमान एवं उपमेय भाव दो भिन्न पदार्थों में रहती है–एकनिष्ठ नहीं हो सकता। इस पंक्ति का आशय यह है–

अर्थभाव वाक्य में प्रयुक्त 'श्येन' शब्द की तरह यदि विधिवाक्य में प्रयुक्त श्वेन शब्द का भी अर्थ बाज पक्षी स्वीकार किया जायेगा तो उस स्थिति में श्येन से 'श्येन की स्तुति' रूप वाक्यार्थ होगा। परन्तु सैद्धान्तिक दष्टि से उपमान एवं उपमेय भिन्न–भिन्न होते हैं–अतः निष्कर्ष यह निकलता है कि अर्थवाद वाक्य 'यथा वै श्येनो निपत्यादत्ते एवमयं द्विषर्न्त भ्रातव्यं निपत्यादत्ते' में श्वेन शब्द गुणवाचक नहीं है। इस तरह दोनों में उपमान उपमेय भाव की सिद्धि भी हो जाती है। अर्थात् अर्थवादवाक्य में व्यवहृत 'श्येन' शब्द रूपी उपमान से श्येन नामक याग रूपी उपमेय की प्रशंसा की जा सकती है। अतः 'तद्व्यपदेश' न्याय से श्येन शब्द का नामधेय है।

(५६) उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्वमपि पचमं नामधेयनिमित्तमिति केचित्। यथा 'वैश्वदेवेन यजेते'त्यादौ। अत्रौत्पत्तिशिष्टाग्न्यादीनां बलीयस्त्वाद्वैश्वदेवशब्दस्य विश्वदेवदेवताभिधायकत्वं न संभवतीति कर्मनामधेयत्वम्।

वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवास्य कर्मनामधेयत्वं प्रकृतयागे विश्वदेवरूपगुणसंप्रतिपन्नशास्त्रस्यार्थवादरूपस्यैव सत्त्वात्। 'यद्विश्वेदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेव्य वैश्वदेवत्वम्' इति।

उत्पत्ति विधि से बोधित गुण की प्रबलता भी नाम धेय का पचम निमित्त है, ऐसा कुछ लोगों का मत है, जैसे–वैश्वदेवेन यजेत–आदि वाक्यों में। इस वाक्य में उत्पत्तिविधि के द्वारा बोधित अग्नि आदि देवताओं की प्रबलता के कारण वैश्वदेवशब्द विश्वदेव नामक देवता का वाचक नहीं हो सकता, अतः कर्मविशेष का नाम कहा जाता है।

किन्तु सत्य स्थिति यह है कि 'तत्प्रख्यशास्त्र' से ही इसकी कर्मनामधेयता सिद्ध हो जाती है क्योंकि वर्तमान याग में

विश्वदेव रूप का बोधक वाक्य अर्थवाद वाक्य के रूप में विद्यमान् है। वह अर्थवाद वाक्य है 'यद् विश्वदेवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम्।'

विशेष :- इससे पूर्व नामधेयत्व स्वीकार करने में चार कारणों का सोदाहरण विवेचन किया गया है। कुछ लोगों के विचार में पाँचवां 'उत्पत्तिशिष्टगुणक्लीयस्त्व' संज्ञक कारण 'नामधेय' में माना जा सकता है। इसी का विवेचन ग्रन्थकार यहाँ पूर्वपक्ष निरूपण पुरस्सर प्रस्तुत कर रहा है। पूर्वपक्षी का पचम निमित्त के सम्बन्ध में वक्तव्य इतना ही है कि 'उत्पत्तिविध में उपदिष्ट देवता बलवान् होता है। अर्थात् उत्पत्तिविधि द्वारा जिस गुण का विधान किया जायेगा वह किसी दूसरे वाक्य से विहित द्रव्य देवतादि अंग (=गुण) से प्रबल होगा। इसका कारण यह है कि उत्पत्तिविधि स्वतः गुण का विधान करती है अन्य वाक्यों में श्रूयमाण वस्तुतः यागविशेष के 'नामधेय' होते हैं। याज्ञिकी प्रक्रिया के अनुसार विषयावबोध इस प्रकार किया जा सकता है। चातुर्मास्य भाग में चार पर्वो का उल्लेख है—(१) वैश्वदेव (२) वरुणप्रघास (३) साकमेध एवं (४) सुनासीरीय। वैश्वदेव पर्व में आठ यागों का विधान है—'आग्नेयमष्टाकपालम् निर्वपति, सौम्यं चरुम्, सावित्रं द्वादशकपालम्, भारस्वतं चरुम्, पौष्णं चरुं मारुतम् सप्त कपालम् वैश्वदेवीमामिक्षाम्, द्यावापथिव्यमेककपालम्।' इन आठों यागों के समीप में 'वैश्वदेवेन यजेत' यह वाक्य पठित है। पूर्व पक्ष का कहना है कि आठों यागों का 'यजेत' पद से अनुवाद करके 'विश्वदेव' देवता रूप गुण का विधान किया जा सकता है। यद्यपि 'वैश्वदेवी आमिक्षा वाक्य में 'विश्वदेव' देवता विहित है तथापि 'आग्नेय से लेकर मारुतम्, एवं द्यावापथिव्यमेककपालम्' इन सातों योगों में 'विश्वदेव' की विद्यमानता नहीं है अतः उसका (विश्वदेव का) विधान आग्नेयादि देवताओं के रहते हुए भी 'विकल्प' से किया जा सकता हैं कारण यह है कि जब हम 'वैश्वदेव' को केवल याग का नाम मान लेंगे तब द्रव्य एवं देवता का श्रवण नहीं होगा एवं ('द्रव्य' और 'देवता' स्वरूप) याग का स्वरूप नहीं बनेगा। अतः 'वैश्वदेवेन यजेत' को निरर्थक मानना होगा, यह समीचीन नहीं है इसलिये 'गुण' का ही विधान मंगल है अर्थात् इसे 'गुणविधि' मान लेना ठीक है। पूर्वपक्ष के इन युक्तियों का उत्तर सिद्धान्ती इस प्रकार देता है—'उत्पत्ति विधि' से विहित आग्नेयादि यागों का 'यजेत' पद से अनुसाद कर उन आठों के संहति (=समुदाय) का नाम 'वैश्वदेव' रखा जाता है। यद्यपि द्रव्य देवतादि के अभाव में हम इसे विधायक शास्त्र नहीं कह सकते, तथापि 'प्राचीन प्रवणे वैश्वदेवेन यजेत' इत्यादि में एक ही 'वैश्वदेव' शब्द से आठों यागों का व्यवहार सम्भव है। अतः 'वैश्वदेव' शास्त्र निरर्थक नहीं होगा। 'वैश्वदेव' नामकरण में दो हेतु हैं—पहला 'छत्रि न्याय' से समझा जा सकता है। लौकिकि व्यवहार में जनसमुदाय में यदि थोड़े से ही लोग छत्र लेकर चल रहे हों तब भी 'छत्रिणो यान्ति' समस्त जनसमूह के लिये हो जाता है उसी प्रकार आमिक्षायाग में भी समस्त विश्वदेवों का याग होने के कारण आठों में 'वैश्वदेवत्व' का व्यवहार होता है। अथवा, यह भी समाधान हो सकता है कि आठों यागों का कर्त्ता 'विश्वदेव' है अतः आठों यागों में विश्वदेवत्व रहेगा। इसकी पुष्टि ब्राह्मण भाग के प्रमाण से भी होती है यथा—यद्विश्वे देवाः समयजन्त तद्वैश्वदेवस्य वैश्वदेवत्वम् पूर्वपक्ष ने 'अग्न्यादि एवं विश्वदेव' देवताओं में पारस्परिक विकल्प की जो बात कही है, वह ठीक नहीं है। क्योंकि विकल्प का प्रसक्ति 'तुल्यबल' में होती है। प्रकृत संदर्भ में अग्न्यादि 'उत्पत्तिशिष्ट' होने से प्रबल है और विश्वदेव 'उत्पन्नशिष्ट' होने से दुर्बल है। क्योंकि 'अग्न्यादि देवता' श्रुति प्राप्त है एवं 'विश्वेदेवाः' प्रकरण प्राप्त है। अतः अग्न्यादि ही देव है और वैश्वदेव इन आठों का नाम है।

सिद्धान्ती अपने पक्ष का उपसंहार 'वस्तुतस्तु तत्प्रख्यशास्त्रादेवस्य.....' इत्यादि पंक्तियों से करता है। भाव यह है कि—'वैश्वदेवेन यजेत' वाक्य में प्रयुक्त 'वैश्वदेव' पद को याग का नामधेय इसलिये स्वीकार करना चायिे क्योंकि इसमें 'विश्वदेव देवताः'' रूप गुण का प्रकाशन करने वाला वाक्य अर्थवाद है। अतः 'उत्पत्तिशिष्टगुणबलीयस्त्व को स्वतन्त्र रूप से स्वीकार करने का प्रयोजन नहीं है।

(६०) पुरुषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः, निषेधवाक्यानामनर्थहेतुक्रियानिवत्तिजनकत्वेनेवार्थवत्त्वात्। तथा हि यथा विधिः प्रवर्तनां प्रतिपादयन् स्वप्रवर्तकत्वनिर्वाहार्थ विधेयस्य यागादेरिष्टसाधनत्वमाक्षिवन् पुरुषं तत्र प्रवर्तयति, तथा 'न कलजं भक्षये'दित्यादिनिषेधोपि निर्वतनां प्रतिपादयन् स्वनिवर्तकत्वनिर्वाहार्थं निषेध्यस्य कलजभक्षणस्य परानिष्टसाधनत्वमाक्षिपन् पुरुषं ततो निवतंयति।

विशेष :- नामधेय रूप वेदभाग का निरूपण करके निषेध रूप वेदभाग का प्रतिवादन किया जा रहा है। शास्त्र में नरकादि को अनर्थ माना है। इस नरक प्राप्ति का हेतु 'कलज भक्षणादि होता है। अतः पुरुष को ऐसे कार्यों से 'निषेधवाक्य' निवर्तित करते हैं। अन्यथा कलजादि भक्षण करता हुआ व्यक्ति पतित हो जाता है और यागादि में अनधिकारी होकर पुरुषार्थ प्राप्ति से वंचित हो जाता है। विधिवाक्य अपनी 'प्रवर्तकत्व' या 'प्रेरणाप्रदात त्व' शक्तिरूप सामर्थ्य द्वारा पुरुष का यागादि अनुष्ठान में लगाते हैं और यागजन्य फल का भी बोध कराते हैं क्योंकि प्रयोजन ज्ञान के अभाव में केवल विधिज्ञान से ही प्रवत्ति होना कल्पनामात्र है। इसी प्रकार निषेधवाक्यों में निहित जो निवर्त्तना शक्ति है उसका चरितार्थ इस बात में है कि वे पुरुष को अनर्थ हेतु का बोधन कराके निषिद्ध कर्मों से उसे अलग करते हैं।

(६१) ननु निषेधवाक्यस्य कथं निवर्तनाप्रतिपादकत्वमिति चेदुच्यते। न तावदत्र धात्वर्थस्य नार्थेनान्वयः, अव्यवधाानेपि तस्य प्रत्ययार्थभावनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः। न ह्यन्योपसर्जनत्वेनोपस्थिमन्यत्रान्वेति, अन्यथा राजपुरुषामानयेत्यादावपि राज्ञः क्रियान्वयापत्तेः। अतः प्रत्ययार्थस्यैव नभर्थेनान्वयः। तत्रापि नाख्यातत्वांशवाच्यार्थभावनायास्तस्या लिङंशवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितेः, किन्तु लिङ्शवाच्यशब्दभावनायाः, तस्या सर्वापेक्षया प्रधानत्वात्।

नचश्चैव स्वभावो यत्स्वसमभिव्याहृतपदा र्थविरोधिबोधकत्वम्। यथा 'घटो नास्ती'त्यादौ अस्तीतिशब्दसमभिव्याहृता ना् घटसत्त्वविरोधि घटासत्त्वं गमयति, तदिह लिङ्समभिव्याहृतो ना् लिङर्थप्रवर्तनाविरोधिर्नी निवर्तनामेव बोधयति। विधिवाक्येश्रवणेयं मां प्रवर्तयतीति प्रतीतिः। तस्मान्निषेधवाक्यस्थले निवर्तनैव वाक्यार्थः।

यदा तु प्रत्ययार्थस्य तत्रान्वये बाधकं तदा धात्वर्थस्यैव तत्रान्वयः।

पुरुष के कर्मविशेष से मना करने वाला वाक्य निषेध है। निषेध–वाक्यों की सार्थकता इसी में है कि वे अनिष्ट की कारणभूत क्रियाओं से पुरुष को हटाते हैं। जिस प्रकार से विधि–वाक्य प्रवत्ति को प्रतिपादित करते हुये अपनी प्रवर्तकता के निर्वाह के लिये सम्पादनीय याग आदि में इष्टभूत स्वर्गादि की साधनता का आक्षेप करते हुए पुरुष की उसमें–यागादि में–प्रवत्त करता है, उसी प्रकार 'कलज नहीं खाना चाहिये' इत्यादि निषेध भी निवत्ति का प्रतिपादन करते हुए अपनी निवारकता के निर्वाह के लिये निषेध के विषय कलजभक्षण में घोर नरकादि अनिष्ट की साधनता का आक्षेप करते हुए पुरुष को उससे हटाता है।

निषेधवाक्य की निवर्तना–प्रतिपादकता कैसे सिद्ध होती है यह शंका हो तो उत्तर है–कि यहाँ धात्वर्थ का ना् के अर्थ से अन्वय नहीं होता है। क्योंकि व्यवधान न रहने पर भी उस धात्वर्थ की उपस्थिति प्रत्यय की अर्थभूता भावना में विशेषण रूप में होती है। दूसरे के विशेषण के रूप में उपस्थित वस्तु उससे भिन्न से नहीं जुड़ती। अन्यथा तो 'राजपुरुष को लाओ' आदि वाक्यों में भी राजा का सम्बन्ध क्रिया से होने लगेगा। इसलिये प्रत्ययार्थ का ही नार्थ से अन्वय होता है। वहाँ भी–अर्थात् प्रत्ययार्थ में भी–नार्थ से आख्यातत्व अंश से वाच्य आर्थीभावना का सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि वह तो लिङ्ग–अंश से वाच्य प्रवर्तना के विशेषण के रूप में उपस्थित होती है, अपितु लिङ्ग अंश से वाच्य शाब्दी–भावना से उसका अन्वय होता है, क्योंकि वही शाब्दीभावना ही सबकी अपेक्षा प्रधान होती है।

ना् का यह स्वरूप है कि वह अपने साथ अन्वित पद के अर्थ के विरोधी का बोध कराता है। जैसे–'घटो नास्ति' आदि में 'अस्ति' इस पद के साथ में पठित ना् घट की सत्ता की विरोधिनी घट की असत्ता का ज्ञान कराता है। इसी प्रकार यहाँ न कलजं भक्षयेत् में लिङ् के साथ अन्वित ना् लिङ् की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना का ही बोध कराता है। 'यजेत स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्य का श्रवण होने पर 'यह विधि मुझे यागादि में प्रवत्त करती है' इस वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, अतः निषेध वाक्यों के स्थानों में निवर्तना ही वाक्यार्थ होती है।

जब प्रत्ययार्थ का उस नञर्थ से अन्वय में बाध होता है, तब धात्वर्थ का ही नञर्थ से अन्वय होता है।

विशेष :- निषेधवाक्य के स्वरूप की विवेचना प्रसंग में यह निरूपित किया गया है कि क्रिया के प्रति पुरुष में निवर्तकत्व रूप व्यापार का उत्पादक 'अनर्थक' रूप हेतु का स्पष्ट निर्देश ही होता है। जिस प्रकार प्रवर्त्तक वाक्य के अभाव में सामान्यतः व्यक्ति की प्रवत्ति नहीं होती ठीक उसी तरह निवर्त्तकत्व के लिये निषेधबोधक शब्दों की आवश्यकता होती है। यहाँ संशय यह होता है कि 'निषेध' का निवर्त्तनारूप अर्थ कैसे सम्भव है ? 'न कलजं भक्षयेत्' 'ब्राह्मणो न इन्त्व्यः' इत्यादि वाक्यों में निषेधवाक्य 'न' शब्द अव्यवहित रूप से 'भक्षयेत्' एवं 'इन्तव्यः' आदि क्रिया पदों के साथ प्रयुक्त है अतः स्वाभाविक है कि इस 'नार्थ' का अन्वय 'धात्वर्थ' के साथ हो। इस परिस्थिति में निष्कर्ष यह होगा कि 'भक्षयेत् एवं हन्तव्यः' का अर्थ क्रमशः 'भक्षणाभावः' एवं 'हननाभावः' है क्योंकि 'नञ्' 'अभाव' अर्थ का ही बोधक होता है।

यदि 'भक्षयेत्' एवं 'हन्तव्यः' आदि आख्यातों की संरचना पर विचार किया जाये तो स्पष्ट होता है कि इनसे प्रवर्त्तना का बोध 'लिङ्गत्व' के कारण हो रहा है अतः इनसे बोधित अर्थ का रूप 'भक्षणाभावः कर्त्तव्यः', हननाभावः कर्त्तव्यः आदि होगा। इस प्रकार घात्वर्थ 'भक्षणाभावः' हननाभावः' आदि होगा और निषेध से निवर्त्तना का बोध नहीं होगा। परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है क्योंकि प्रकृत संदर्भ में पूर्वपक्ष द्वारा 'ना्' का जो 'अभाव' अर्थ किया गया है वह उचित नहीं है। प्रथमतः धातु के अर्थ के साथ 'नञ्' के अर्थ का अन्वय नहीं होगा। क्योंकि 'भक्ष्' धातु का अर्थ 'त' प्रत्यय के आख्यातत्वांश द्वारा बोधित आर्थीभावना का साधन है इसलिये 'आर्थीभावना' के प्रति 'उपसर्जनभूत' भी है। नियमतः किसी के प्रति उपसर्जनभूत पदार्थ अन्य के साथ सम्बन्धित नहीं होता है। 'राजपुरुषमानय' इस लौकिक दष्टान्त में 'आनय' क्रिया पद का सम्बन्ध राजा के साथ नहीं होता क्योंकि

उसका सम्बन्ध उपसर्जन रूप में 'पुरुष' से पूर्वतः प्राप्त है। अतः 'आनयन' पुरुष का होता है 'राजा' का नहीं। इस प्रकार यह सिद्धान्त निर्णीत हुआ कि 'धात्वर्थ' के साथ 'नञर्थ' का समन्वय ठीक नहीं है।

द्वितीयतः—'नञ्' का अर्थ 'अभाव' नहीं है। इसका विशद विवेचन अग्रिम सन्दर्भ में किया जायेगा।

'शाब्दभावना' एवं 'आर्थीभावना' के प्रकरण में बताया गया है कि प्रत्यय के एक अंश आख्यातत्व से अर्थभावना, एवं लिङ्श से 'शब्दभावना' का बोध होता है। संशय यह होता है कि इन दोनों में से 'नञ्' के साथ किसका अन्वय होगा इसका समाधान करने के लिये हमें, 'उपसर्जन' की बात ध्यान में रखनी होगी। यह असंदिग्ध सत्य है कि अर्थभावना शब्दभावना या प्रवर्त्तना के प्रति 'उपसर्जनभूत' है। इस शब्दभावना का बोध 'लिङ्ग' अंश से होता है, यह हम देख चुके हैं। अतः इस बात को मूलग्रन्थ से लिङ्गशब्दवाच्यप्रवर्तनोपसर्जनत्वेनोपस्थितिः' कहा है। साध्य होने के कारण आर्थीभावना के साथ 'नञ्' का अन्वय हो नहीं सकता अतः शब्दभावना के ही साथ अन्वय समीचीन है। इस प्रकार विदित हुआ कि 'न भक्षयेत्' आदि वाक्यों में 'नञ्' का अन्वय धात्वर्थ के साथ नहीं अपितु 'लिङ्गर्थ' के साथ किया जाना चाहिये।

मीमांसक की दष्टि में 'नञ्' का अर्थ केवल 'अभाव' ही नहीं होता अपितु 'विरोध' भी उसका अर्थ है। मूलग्रन्थ में 'घटो नास्ति' इस दष्टान्त से यह प्रतिपादित किया गया है कि 'नास्ति' पद में नञ्र्थ का द्योतक 'न' वस्तुतः 'अस्ति' का विरोधी है अतः 'घटाभावः' अर्थ का बोध कराता है। 'न कलजं भक्षयेत्' इस दष्टान्त में लिङ के साथ 'नञ्' का अन्वय करने पर निवर्तना का बोध होता है यह प्रवर्तना का ही विरुद्धबोधक अर्थ है अतएव 'निवत्त्यनुकूलव्यापाररूप' ही निवर्तना का स्वरूप है।

(६२) **तच्च बाधकं द्विविधम्-तस्य व्रतमित्युपक्रमो विकल्पप्रसक्तिश्च।**

तत्राद्यं 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्य'मित्यादौ 'तस्य व्रत' मित्युपक्रम्यैतद्वाक्यपाठात्। तथा चात्र पर्युदासाश्रयणम्।

तथा हि-व्रतशब्दस्य कर्तव्यार्थे रूढत्वात्तस्य व्रतमित्यत्र स्नातकस्य व्रतानां कर्तव्यत्वेनोपक्रमात्। किं तत्कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां 'नेक्षेतोद्यन्तमि'त्यादिना कर्तव्यार्थ एव प्रतिपादनीयः, अन्यथा पूर्वोत्तरवाक्योरेकवाक्यत्वं न स्यात्।

तथा च नार्थेन न प्रत्ययार्थान्वयः कर्तव्यार्थानवब्रोधात्। विध्यर्थप्रवर्तनाविरोधिनिवर्तनाया एव तादशनाा बोधनात् तस्याश्च कर्तव्यार्थत्वाभावात्। तस्मान्नेक्षेतेत्यत्रं नञ धात्वर्थरिरोध्यनीक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते तस्य कर्तव्यत्वसंभवात्।

आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेदिति वाक्यार्थः। तत्र भाव्याकाङ्क्षायाम् 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवती'ति वाक्यशेषावगतः पापक्षयौ भाव्यतयान्वेति। एवं च पूर्वोत्तरयोरेकवाक्यत्वं निर्वहत्येव। न चात्र धात्वर्थः विरोधिनः पदार्थान्तरस्यापि संभवात्कथमनीक्षणसंकल्पस्यैव भावनान्वय इति वाच्यम्। तस्य कर्तव्यताभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्।

और वह वाचक दो प्रकार का है—'तस्य व्रतम्' यह प्रकरण तथा विकल्प—प्रसक्ति। उनमें प्रथम—'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' —निकल रहे तथा डूब रहे सूर्य को कभी न देखे—आदि में है, क्योंकि वहाँ 'तस्य व्रतम्'—ये ब्रह्मचारी के अनुष्ठेय कर्म हैं—ऐसा प्रकरण प्रारम्भ करके तब इस वाक्य का पाठ किया गया है। इसलिये वहाँ पर्युदास का अवलम्बन लिया जाता है।

जैसे कि व्रतशब्द के कर्त्तव्य—अर्थ में रूढ़ होने से 'तस्य व्रतम्' इस वाक्य में स्नातक के व्रतों का कर्त्तव्य के रूप में उपक्रम होने के कारण—वह कर्त्तव्य क्या है' यह आकांक्षा होने पर 'नेक्षेतोद्यन्तम्' इत्यादि वाक्य के द्वारा कर्त्तव्यरूप अर्थ का ही प्रतिपादन होना चाहिये, नहीं तो पहले एवं बाद के वाक्यों में—'तस्य व्रतम्' और 'नेक्षेत०' में एकवाक्यता नहीं होगी।

ऐसी स्थिति में नञर्थ के साथ प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं होगा क्योंकि ऐसा होने पर 'कर्त्तव्यरूप अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा। विधि की अर्थभूता प्रवर्तना की विरोधिनी निवर्तना ही उस प्रकार के ना् से बोधित होगी, और इस निवर्तना में कर्त्तव्यरूप अर्थ का अभाव होगा। अतः 'नेक्षेत्र०' इस वाक्य में नञ् से ईक्षणरूप धातु के अर्थ का विरोधी अनीक्षणसङ्कल्प ही लक्षणा से प्रतिपादित किया जाता है, क्योंकि उसकी कर्त्तव्यता संभव है।

अतः नेक्षेत०' आदि वाक्य का अर्थ हुआ—'आदित्यविषयक अनीक्षण के सङ्कल्प से भावना करे।' इस अर्थ में 'भाव्य' की आकांक्षा होने पर 'एतावता हेनसा वियुक्तो भवति'—इससे वह निश्चित ही पाप से मुक्त हो जाता है—वाक्य के इस शेषांश से ज्ञात पापक्षय भाव्य के रूप में अन्वित होता है। इस प्रकार पहले तथा बाद के वाक्यों में एकवाक्यता का भी निर्वाह हो जाता है। ईक्षण धातु के अर्थ के विरोधी दूसरे पदार्थ की भी संभावना हो सकने से अनीक्षणसङ्कल्प का ही भावना से अन्वय कैसे हो गया, यह यहाँ नहीं कहना चाहिये क्योंकि उस पदार्थान्तर की करणीय कर्म के रूप में प्राप्ति न होने से प्रस्तुत प्रसङ्ग में यह भावना के साथ अन्वय के योग्य नहीं है।

विशेष :- नञर्थ का प्रत्ययार्थ भावना में अन्वित होने में कहीं कहीं अपवाद भी दष्टिगोचर होता है इस तथ्य का विवेचन

प्रस्तुत अवतरण में किया जा रहा है। नञर्थ के अन्वित न हो सकने में दो बाधक माने गये हैं–(१) 'तस्य व्रतम्' का उपक्रम एवं (२) विकल्पप्रसक्तिः।

प्रथम प्रकार के बाध का दष्टान्त है–नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्'। इस वाक्य का पाठ 'तस्य व्रतम्' इस उपक्रम मे उपलब्ध होता है। अर्थात् स्नातकों द्वारा लिये जाने वाले संकल्पों का निर्देश 'तस्य व्रतम्' से प्रारम्भ होता है। इस प्रकरण में परिगणित विभिन्न व्रतों में 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम् भी है। अतः सन्दर्भ विशेष में पठित होने के कारण यह विदित होता है कि इस वाक्य द्वारा भी 'कर्त्तव्यार्थ' का ही निर्देश है। क्योंकि इस वाक्य से कर्त्तव्यार्थ का बोध न हो करके, मात्र 'ईक्षण रूपी' क्रिया के निषेध का बोध हो रहा हो तो इस वाक्य का पूर्व वाक्य 'तस्य व्रतम्' आदि से किये गये उपक्रम से भी विरोध होता अतः 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' से 'कर्त्तव्यार्थ' का ज्ञान होना ही चाहिये। अब यदि निषेधवाक्यों में माने जानी वाली सामान्य विधि का हम आश्रय ले तब 'ईक्षेत्' के लिङंश का अन्वय 'न' के साथ करना होगा। इसी को मूल ग्रन्थ में 'प्रत्ययार्थान्वयः अर्थात् प्रत्ययैकदेशलिङ्र्थान्वयः' कहा गया है। परन्तु ऐसा निर्णय लेने पर इस वाक्य से 'कर्त्तव्यार्थ' का बोध नहीं होगा। क्योंकि 'लिङंश' के साथ 'न' का अन्वय होने पर यह 'प्रवर्त्तना के विरोधी 'निवर्तना' का बोधक होगा। परन्तु निवर्तना का 'कर्त्तव्यार्थ' में अन्वय नहीं हो सकता। अतः धात्वर्थ (=ईक्षण) के साथ ही 'न' का अन्वय ठीक है इस तरह धात्वर्थ के साथ अन्वित होने पर 'ईक्षणाभावः' (=अनीक्षण) अर्थ का बोधक होगा। परन्तु प्रकृत सन्दर्भ यह अर्थ थी अभीष्ट सम्पादन नहीं करता क्योंकि 'अनीक्षण; अभावमात्र का बोधक होने से 'कर्त्तव्यार्थ' का ज्ञापक नहीं होगा। इस विषम परिस्थिति से मुक्त होने का उपाय निर्देश करते हुये ग्रन्थकार ने कहा है–

'तस्मात् नेक्षेत' इत्यत्र नञ धात्वर्थविरोध्यनीयक्षणसंकल्प एव लक्षणया प्रतिपाद्यते, तस्य कर्त्तव्यत्वसंभवात्।

अर्थात् 'नेक्षेत' यहाँ पर 'नञ्' से धात्वर्थ विरोधी अनीक्षण संकल्प का ही 'लक्षणा' द्वारा प्रतिपादन होता है एवं अनीक्षण संकल्प का तब कर्त्तव्य अर्थ सम्भव है।

आशय यह है कि–'लक्षणा' का आश्रय 'मुख्यार्थबाध' होने पर ही लिया जाता है। यहाँ 'नेक्षेत' का वाक्यार्थ या मुख्यार्थ धात्वर्थ (ईक्ष्+न) है जिससे ईक्षणाभाव या अनीक्षण द्योतित होता है परन्तु 'कर्त्तव्यार्थ' का बोध इससे नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ का बाध हो रहा है। लक्षणा के द्वारा 'अनीक्षण संकल्प' अर्थ धात्वर्थ विरोधी भी होगा और 'क र्त्तव्यार्थ' का भी बोध करायेगा। इस प्रकार मीमांसक की दष्टि से 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' का अर्थ 'आदित्यविषयकानीक्षणसंकल्पेन भावयेत्' होगा। यहाँ 'भावयेत्' पद से 'किं भावयेत्' ? की आकांक्षा होना सहज है अर्थात् आदित्यविषयक अनीक्षण के संकल्प से क्या भाव्य है ? यह प्रश्न उपस्थित होगा। इसका उत्तर इसी प्रकरण में पठित 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' वाक्य द्वारा मिलता है। इस वाक्य में 'पापक्षय रूप' फल उन स्नातकों के लिये विहित जो व्रतों का पालन करते हैं। अतः आदित्यानीक्षण संकल्परूप भावना से स्नातक पापमुक्त हो जाता है अन्यथा 'आदित्येक्षण' से उसे पाप लगता है। इस प्रकार 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्' एवं 'एतावता हैनसा वियुक्तो भवति' इन वाक्यों की परस्पर आकांक्षा पूर्ति होती है और एकवाक्यता की भी सिद्धि हो जाती है।

इस प्रसंग में एक संशय यह किया जा सकता है कि ईक्ष् धात्वर्थ विरोधी दर्शनाभाव विषयक संकल्प ही नहीं है अपितु कपड़ा इत्यादि ने 'नयन पिधान' भी धात्वर्य विरोधी एवं कर्त्तव्यार्थ है अतः 'अनीक्षण' संकल्प का ही अन्वय भावना में क्यों करना चाहिये ? इसका समाधान 'तस्य कर्त्तव्यताभावेन प्रकृते भावनान्वयायोग्यत्वात्' द्वारा ग्रन्थकार ने दिया है। सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि–यद्यपि 'पटादिना चक्षुषः पिधानम्' 'धात्वर्थ विरोधी' एवं कर्त्तव्यार्थ है परन्तु इस व्याख्या को हम इसलिये नहीं स्वीकार कर सकते हैं क्योंकि उपक्रम प्रकरण में पठित 'तस्य व्रतम्' में 'व्रत' पद को 'मानस संकल्प' रूप में जाना जाता है। केवल पट से पिधानादि रूप शारीरिक क्रियामात्र इस सन्दर्भ में अभिप्रेतार्थ नहीं है। अतः यह 'कर्त्तव्य रूप में नहीं निर्दिष्ट हो सकता। क्योंकि कर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्ट पदार्थ में ही भावना से अन्वित होने की योग्यता मानी जाती है। अतः नयनपिधान में योग्यता नहीं है यह स्पष्ट हो गया।

इस प्रकार सम्पूर्ण संदर्भ का तत्त्व यह है जहाँ नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय में बाधा उपस्थित होती है ऐसे स्थलों पर 'पर्युदास' के द्वारा अन्वय होता है। पर्युदास का सामान्य लक्षण यह है कि जब नञर्थ का अन्वय प्रत्ययार्थ से न होकर 'सुबन्त पद' अथवा धात्वर्थ से है तो उसे 'पर्युदास' कहते हैं।

(६३) द्वितीयं 'यजतिषु ये यजामंह करोति नानुयाजेष्वि'त्यादौ। अत्र विकल्पप्रसक्तौ च पर्युदासाश्रयणात्।

तथा हि-यद्यत्र वाक्यं नार्थे प्रत्ययार्थान्वयः स्यात्तदा अनुयाजेषु 'ये यजामहं' इति मन्त्रस्य प्रतिषेधः स्यात्, अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यादिति। स च प्राप्तिपूर्वक एव, प्राप्तस्यैव प्रतिषेधात् प्राप्तिश्च 'यजतिषु ये यजामहं करोती'ति शास्त्रादेव वाच्या। शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः। प्राप्तिमूलरागस्येव तन्मूलशास्त्रस्य बाधायोगात्।

न च 'पदे जुहोती'तिविशेषशास्त्रेण 'आहवनीये जुहोती'ति शास्त्रस्येव 'नानुयाजेष्वि'त्यनेन 'यजतिषु येयजामहं करोती'त्यस्य बाधः स्यादिति वाच्यम्। परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्यबाधकभावात्। पदशास्त्रस्य हि स्वार्थविधानार्थमाहवनीयशास्त्रानपेक्षणान्निरपेक्षत्वम्। प्रकृते तु निषेधशास्त्रस्य निषेध्यप्रसक्त्यर्थ 'यजतिषु येयजामह'मित्यस्यापेक्षणान्न निरपेक्षत्वम्।

विशेष :- इससे पूर्व के परिच्छेद में 'तस्य व्रतमित्युपक्रमः' के दष्टान्त द्वारा ग्रन्थकार ने यह प्रतिपादित किया कि 'नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वय में क्या बाधक है ? अब 'विकल्प प्रसक्ति' रूप द्वितीय बाधक के स्वरूपपर विचार प्रकृत सन्दर्भ में किया जा रहा है।

यहाँ 'विकल्प प्रसक्ति' के कारण 'पर्युदास' का आश्रयण क्यों करना होगा इसका 'यजतिषु ये यजादद्दं करोति नानुयाजेषु' इस दष्टान्त के द्वारा विवेचन है।

यहाँ 'यजतिषु' से अभिप्राय है–अध्वर्युप्रैषानन्तरं क्रियमाणेषु यागेषु' एवं 'ये यजामहं करोति' का तात्पर्य है–'ये यजामहे' इति मन्त्रमुच्चारयति। अतः इस समग्र वाक्य का अर्थावबोध (१) यजतिषु ये यजामहं करोति' एवं (२) 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति'– इस रूप में करना अभीष्ट है। इस सन्दर्भ में पहला वाक्य 'यजतिषु ये यजामहं करोति' उत्सर्ग विधि रूप है और दूसरा 'अनुमान' इत्यादि अपवादरूप। यहाँ अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' पर सामान्यतः विचार करने पर 'निषेध वाक्य' का ही दष्टान्त प्रतीत होता है, जिससे 'अनुयाजेषु ये यजामहं न कुर्यात्' में नञर्थ का निवर्तना या निषेध बोध होगा। परन्तु यह भाव यहाँ नहीं है अर्थात् प्राकृत दष्टान्त में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय नहीं किया जा सकेगा क्योंकि इस परिस्थिति में निवर्तनारूप अर्थ के चरितार्थ्य के लिये अनुयाजसंज्ञकयोगों में 'ये यजामह' मन्त्र का पाठ नहीं करना चाहिये यह स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रक्रिया में 'ये यजामह' मन्त्र का निषेध होगा। परन्तु निर्णीत सिद्धान्त यह है कि जिस पदार्थ की प्राप्ति किसी कारण से हुई रहती है उसी का निषेध होता है। यथा–'कलजभक्षण' रागतः प्राप्त होने से ही 'न कलजं भक्षयेद्' द्वारा निषिद्ध हुआ। शास्त्र प्राप्त वाक्य 'राग' से बलवत्त होता है। परन्तु 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' वाक्य में 'ये यजामहं की प्राप्ति यजतिषु ये यजामहं करोति' वाक्य द्वारा हुई है। अतः दोनों वाक्य परस्पर सापेक्ष है। सापेक्ष होने से वाच्य बाधक सम्बन्ध नहीं हो सकता अपितु निरपेक्ष होने पर यह स्थिति हो सकती थी अत एव कहा है–'शास्त्रयोर्हि –बाध्यबाधकभावो यत्र परस्पर निरपेक्षता' नियमतः शास्त्रप्राप्त वाक्य शास्त्रान्तर से निषेध नहीं होता अतः प्रश्न यह उपस्थित होता है कि 'यजतिक्षु यक यजामहं करोति' इस शास्त्र का 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' यह शास्त्रान्तर यदि निषेध नहीं करता तो इन दोनों में किस प्रकार का सम्बन्ध मानना उचित है ? इसका उत्तर शास्त्रप्राप्तस्य च प्रतिषेधे विकल्प एव, न तु बाधः' इत्यादि पंक्ति द्वारा दिया गया है। समाधानकर्त्ता का आशय यह है कि–जब शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का अन्य शास्त्र से निषेध किया जा रहा हो तो उस स्थिति में 'विकल्प' मान्य होता है निषेध की प्रसक्ति नहीं होती। विकल्प की प्राप्ति होने पर पर्युदास का आश्रय लिया जाता है जिसके द्वारा 'नञर्थ' से 'धात्वर्थ' का अन्वय नहीं होता। अतः यह कहा गया है कि विकल्प की प्रसक्ति 'नञर्थ' से 'धात्वर्थ' का अन्वय नहीं होता । अतः यह कहा गया है कि विकल्प की प्रसक्ति 'न ञर्थ' से 'प्रत्ययार्थ' के अनव्य होने में बाधक है।

सिद्धान्तों के उपरिलिखित विवेचन पर पूर्वपक्षी एक दष्टांत के माध्यम से यह सिद्ध करना चाहता है कि शास्त्र प्राप्त का शास्त्रान्तर से बाध होता है विकल्प नहीं। अतः 'यजतिषु ये यजामहं....' इत्यादि के लिये भी इस नियम का उपयोग करना ठीक है। गन्थकार ने पूर्वपक्ष के ही आशय का अनुभाग करके उसका खण्डन करने हुए लिखा है 'न च 'पदे जुहोतीति.....बाधः स्यादिति वाच्यम्।'

पूर्व पक्ष के कथन का अभिप्राय यह है कि –ज्योतिष्टोम याग में सोमक्रय गाय देकर किया जाता है। शास्त्रोक्त विधि यह है कि जब यजनकर्त्ता सोमक्रय के लिये गाय लेकर निकलता है तब वह गाय के पीछे–पीछे उसके पदों पर पद रखता हुआ चलता है गाय के सातवें 'पद' पर यज्ञकर्त्ता के लिये होम करने का विधान 'सप्तमे पदे जुहोति' वाक्य द्वारा विहित है इसे ही 'पदशास्त्र' कहा जाता है। परन्तु होम को सामान्य विधि 'यदाहवनीये जुहोति', जिसे 'आहवनीयशात्र' कहते हैं, से विहित है। जैमिनीय सूत्र के 'आहवनीय बाधाधिकरण' में यह निर्णीत है कि सामान्यशास्त्र 'आहवनीये जुहोति' विशेष शास्त्र 'सप्तमे पदे जुहोति' द्वारा बाधित होता है। अतः पूर्व पक्ष के मन्तव्यानुसार 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' यह विशेषशास्त्र, 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस सामान्य शास्त्र का बाधक है। इस मन्तव्य का खण्डन परस्परनिरपेक्षयोरेव शास्त्रयोर्बाध्य–बाधक–भावात्' द्वारा किया गया है। आशय यह है कि –'परस्पर निरपेक्ष शास्त्रों में बाध्यबाधक भाव होता है' अर्थात् 'सप्तमे पदे जुहोति' इस शास्त्र की स्वार्थाभिधान के लिये विशेष 'आहवनीय शास्त्र' की अपेक्षा नहीं है अतः यह शास्त्र आहवनीये जुहोति द्वारा दी गई व्यवस्था का बाधक हो सकता है। परन्तु 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' रूपो निषेधशास्त्र, 'यजतिषु ये यजामहं करोति' पर

अपने निषेधप्रसक्ति रूपी अर्थ की प्राप्ति के लिए आश्रित है अतः यह निषेधशास्त्र निरपेक्ष नहीं है। इस प्रकार इन दोनों में बाध्यबाधकभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।

(६४) तस्माच्छास्त्रविहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव। स च न युक्तः। विकल्पे शास्त्रस्य पाक्षिकाप्रामाण्यापातात्। न ह्यनुयाजेषु येयजामहमित्यस्यानुष्ठाने नानुयाजेष्वित्यस्य प्रामाण्यं संभवति, व्रीहियागानुष्ठाने यवशास्त्रस्येव। द्विरदष्टकल्पना च स्यात्, विधिप्रतिषेधयोरपि पुरुषार्थत्वात्, अतो नात्र प्रतिषेधस्याश्रयणम्, किंतु नञेनुयाजसंबन्धमाश्रित्य पर्युदासस्यैव।

नञर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय का द्वितीय बाध 'यजतिषु 'ये यजामहं' करोति नानुयाजेषु' इत्यादि वाक्यों में दर्शनीय है। यहाँ विकल्प–प्रसक्ति होने पर, पर्युदास का आश्रय लेने से ही प्रकट होता है।

जैसे कि–यदि इस वाक्य (यजुतिषु० आदि) में नञर्थ से प्रत्ययार्थ का अन्वय किया जायेगा तो अनुयाजों में 'ये यजामह' मन्त्र का बाध होने लगेगा–जिसका अर्थ होगा–'अनुयाजों में 'ये यहामह' मन्त्र का उच्चारण न करना चाहिये। यह निषेध प्राप्तिपूर्वक ही है, क्योंकि बाध प्राप्त का ही होता है। यह प्राप्ति 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस शास्त्रवाक्य से ही कहनी चाहिये। शास्त्रवाक्य से प्राप्त विषय का प्रतिषेध होने पर विकल्प ही माना जाता है न कि बाध। प्राप्ति के आश्रयभूत शास्त्र का दूसरे शास्त्रवचन से उस प्रकार का बाध नहीं होता है जैसा कि प्राप्ति के आश्रयभूत राग का शास्त्रवाक्य से हो जाता है।

'पदे जुहोति इस विशेष शास्त्रवाक्य से 'आहवनीये जुहोति' इस शास्त्र का जिस प्रकार बाध हो जाता है, उसी प्रकार 'नानायाजेषु' इस शास्त्रवाक्य से 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य का बाध हो जायेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्हीं दो शास्त्र–वाक्यों में बाध्यबाधकभाव होता है जो परस्पर सापेक्ष नहीं होते। पदशास्त्र की अपेक्षा न होने से, उसमें निरपेक्षता है, किन्तु वर्तमान प्रसङ्ग में–निषेधवाक्य–नानुयाजेषु को निषेध्य–ये यजामहं'–की प्राप्ति के लिये 'यजतिषु ये यजमाइं करोति' इस वाक्य की अपेक्षा है, अतः निषेधशास्त्र निरपेक्ष नहीं है।

अतः शास्त्र से विहित पदार्थ का दूसरे शास्त्रवाक्य से बाध होने पर विकल्प ही ग्राह्य होता है। यह विकल्प संगत नहीं है, क्योंकि विकल्प ग्रहण करने पर शास्त्र के एक पक्ष–अर्थात् एकशास्त्रवाक्य–में अप्रामाण्य आ जायेगा, क्योंकि 'अनुयाजेषु ये यजामंह' इसका अनुष्ठान करने पर 'नानुयाजेषु' इस वाक्य का प्रामाण्य नहीं हो सकता, जैसा कि व्रीहि से याग का सम्पादन करने पर यव के विधायक शास्त्र का होता है। विकल्प मानने पर दो अदष्टों की भी कल्पना करनी पड़ेगी, क्योंकि विधि और प्रतिषेध दोनों ही पुरुष के लिये इष्ट हैं। अतः यहाँ प्रतिषेध का नहीं, अपितु नञ् का अनुयाज से सम्बन्ध लेकर पर्युदास का ही आश्रय अपेक्षित है।

इत्थं चानुयाजव्यतिरिक्तेषु 'यजतिषु येयजामह' इति मन्त्रं कुर्यादिति वाक्यार्थबोधः, नञोनुयाजव्यतिरिक्ते लाक्षणिकत्वात्। एवं च न विकल्पः। अत्र च वाक्ये येयजामह इति न विधीयते, यजतिषु येयजामहमित्यनेनैव प्राप्तत्वात्। किंतु सामान्यशास्त्रप्राप्त-येयजामह इत्यनुवादेन तस्यानुयाजव्यतिरिक्त-विषयकत्वं विधीयते। यद्यजतिषु येयजामहं करोति तदनुयाजव्यतिरिक्तेष्विति।

नन्वेवं सामान्यशास्त्रप्राप्तस्य विशेष संकोचनरूपादुपसंहारात्पर्युदासस्य भेदो न स्यादिति चेन्न। उपसंहारो हि तन्मात्रसंकोचार्थः। यथा 'पुरोडाशं चतुर्धा करोतीति' सामान्यप्राप्तचतुर्धाकरणम् 'आग्नेयं चतुर्धा करोतीति'। विशेषादाग्नेयपुरोडाशमात्रे संकोच्यते। पर्युदासस्तु तदन्यमात्रसंकोचार्थ इति ततो भेदः।

इस प्रकार 'अनुयाजों से भिन्न यागों में, 'ये यजामहे' इस मन्त्र का उच्चारण करना चाहिये' इस वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, नञ् का अनुयाज से भिन्न अर्थ लक्षणा से होता है। इस प्रकार विकल्प नहीं होता है। इस वाक्य में 'ये यजामहे' इस मन्त्र का विधान नहीं होता, क्योंकि इसकी प्राप्ति 'यजतिषु ये 'यजामहं' करोति इस मन्त्र से होती है। अपितु सामान्य शास्त्रवाक्य से प्राप्त 'ये यजामहे' इस मन्त्र के अनुवाद द्वारा उसका विषय अनुयाज व्यतिरिक्त विहित होता है–कि –जो यागों में 'ये यजामहे' इस मन्त्र का पाठ होना चाहिये, वह अनुयाज से भिन्नों में हो।

यह बात नहीं है कि सामान्यविधायक वाक्य से प्राप्त अर्थ का विशेष में सङ्कोचरूप वाले उपसंहार से पर्युदास का भेद ही नहीं होगा। वस्तुतः विशेषमात्र में सङ्कोच करने वाला उपसंहार है–जैसे 'पुरोडाश को चार भागों में बाँटता है' यह समान्यशास्त्र से प्राप्त चार भागों में विभाजन, 'आग्नेयं चतुर्धा करोति'–अग्निदेवता से सम्बद्ध पुरोडाश को चार भागों में विभक्त करता है' इस विशेष शास्त्रवाकय के कारण आग्नेय पुरोडाशमात्र में सङ्कुचित कर दिया जाता है। और पर्युदास तो उससे भिन्न में ही सङ्कोच के लिये होता है, यह उससे इसका भेद है।

कुत्रचिद्विकल्पप्रसक्तावप्यनन्यगत्या प्रतिषेधाश्रयणम्। यथा 'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति'त्यादौ। अत्र हि 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाती'त शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्य निषेधाद्विकल्पप्रसक्तावपि न पर्युदासाश्रयणम्, असंभावात्।

तथा हि-यद्यत्र षोडशिपदार्थेन नञर्थान्वयस्तदातिरात्रे षोडशिव्यतिरिक्तं गह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, स च न संभवति, अतिरात्रे षोडशिनं गह्णातीति प्रत्यक्षविधिविरोधात्। यदि चातिरात्रेण पदार्थेनान्वयस्तदातिरात्रव्यतिरिक्ते षोडशिनं गह्णातीति वाक्यार्थबोधः स्यात्, सोपि न संभवति, तद्विधिविरोधात्। अतोत्रानन्यगत्या शास्त्रप्राप्तषोडशिग्रहणस्यैव निषेधः। न च विकल्पप्रसक्तिरस्त-स्याप्यपेक्षणीयत्वात्।

कहीं–कहीं विकल्पप्रसक्ति होने पर भी कोई अन्य उपाय न होने से प्रतिपेध का आश्रयण किया ही जाता है। जैसे–'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति–'अतिरात्र में षोडशी को ग्रहण नहीं करता'–आदि में। यहाँ 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' इस शास्त्र से प्राप्त षोडशिग्रहण के निषेध से विकल्पप्रसक्ति होने पर भी पर्युदास का आश्रय नहीं लिया जाता, क्योंकि वह असंभव है।

जैसे कि यदि यहाँ षोडशी पदार्थ के साथ नञर्थ का अन्वय किया जाये तो वाक्यार्थ होगा–अतिरात्र में षोडशी से भिन्न पदार्थ का ग्रहण करता है', और यह अर्थ संभव ही नहीं है, क्योंकि 'अतिरात्रे षोडशिनं गहणाति' इस प्रत्यक्षविधिवाक्य से उसका विरोध है। और यदि अतिरात्र पद के अर्थ के साथ नञर्थ का अन्वय हो तो भी अतिरात्र से भिन्न में षोडशी का ग्रहण करता है, यह वाक्य के अर्थ का बोध होगा। यह अर्थ भी संभव नहीं है, क्योंकि इसका भी पहले की साक्षात् विधि–'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति'–से विरोध है। इसलिये यहाँ इस प्रसंग में और कोई उपाय न होने से शास्त्रप्राप्त षोडशी के ग्रहण का ही निषेध अभीष्ट है। यह नहीं कहना चाहिये कि यहाँ विकल्पप्रसक्ति होने से दोष है, क्योंकि उसकी भी यहाँ अपेक्षा है।

इयांस्तु विशेषो यद्विकल्पादेकप्रतिषेधेपि प्रतिषिध्यमानस्य नानर्थहेतुत्वम् विधिनिषेधोभयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्। यत्र तु न विकल्पः, प्राप्तिश्च रागत एव, प्रतिषेधश्च पुरुषार्थः तत्र प्रतिषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वम्, यथा 'न कलजं भक्षये' दित्यादौ कलजभक्षणादेः, तत्र भक्षणनिषेधस्यैव पुरुषार्थत्वात्।

न च 'दीक्षितो न ददाति न जुहोती'त्यादौ शास्त्रप्राप्तदानहोमादीनां निषेधाद्विकल्पापत्तिरिति वाच्यम्। स्वतःपुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषार्थत्वाभावेपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुत्वात्, यथा क्रतौ स्वस्त्रीगमनादेः, तन्निषेधस्य क्रत्वर्थत्वेन तस्य क्रतुवैगुण्यसंपादकत्वात्।

यहाँ–वर्तमान वैकल्पिक स्थिति में–इतनी विशेषता है, कि विकल्प के कारण एक का प्रतिषेध होने पर भी निषेध्य अनर्थ का कारण नहीं बनता, क्योंकि विधि और निषेध दोनों यथार्थ ही होते हैं। जहाँ विकल्प नहीं है, प्राप्ति भी राग से ही होती है और प्रतिषेध ही पुरुषार्थ होता है, वहाँ निषेध्य अनर्थ का हेतु होता है–जैसे 'न कलंज भक्षयेत्' आदि में कलंजभक्षण आदि, क्योंकि वहाँ भक्षण का निषेध ही पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहना चाहिये कि 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' इत्यादि वाक्यों में शास्त्रविहित दान, होम आदि के निषेध से विकल्प की प्राप्ति हो जायेगी, क्योंकि अपने आप में पुरुषार्थभूत दान, होम आदि के निषेध में पुरुषार्थता का अभाव होने पर भी निषेध्य की अनर्थ में कारणता है, जैसे यज्ञ में अपनी पत्नी से सहवास आदि की, किन्तु उस के निषेध की क्रत्वर्थता होने से और उसकी यज्ञ में वैगुण्य की सम्पादकता से अनर्थ का कारण बनता है।

विशेष :- अब तक की आलोचना से यह निष्कर्ष निकाला था कि 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' में 'न' का अन्वय धात्वर्य से करने पर यह निषेधवाक्य हो जाता है अतः इसमें तथा 'यजतिषु ये यजामहं करोति' में विकल्प की प्रसक्ति अपरिहार्य है, क्योंकि परस्परसाकांक्ष रहने से इनमें बाध्यबाधकभाव भी नहीं होगा। परन्तु प्रस्तुत अवतरण ग्रन्थकार विकल्प पक्ष का भी खण्डन करने में दत्तावधान है। इस खण्डन में दो हेतु हैं– (१) पाक्षिकाप्रामाण्य एवं (२) द्विरदष्ट कल्पना। पाक्षिकाप्रामाण्य को सुबोध बनाने की दष्टि से ग्रन्थकार ने विकल्प का प्रसिद्ध दष्टान्त 'ब्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा' दिया है। जैसे 'व्रीहि' से याग करने पर 'यव' का अप्रामाण्य होता है एवं 'यव' से याग करने पर व्रीहि का। इस प्रकार दोनों ही वाक्य वैकल्पिक रूप से अप्रमाण हो जाते हैं उसी प्रकार प्रकृत दष्टांत में भी विकल्प मान लेने पर 'ये यजामहे' जब प्रामाणिक होगा तब 'न अनुयाजेषु......करोति अप्रामाणिक होगा ओर 'नानुयाजेषु.......' को प्रामाणिक स्वीकार करने पर 'ये' यजामहे' अप्रामाणिक। इस तरह 'विकल्प' में पाक्षिक अप्रामाण्य रूप दोष सदैव रहेगा। अतः यह ग्राह्य नहीं है। द्विरदष्टकल्पना :– विकल्प मानने से 'यजतिषु ये यजामहें' इस शास्त्र में भी यह ज्ञान होगा कि अनुयाज में ये यजामह' मन्त्र के अनुष्ठान से कोई अदष्ट होता है, इस प्रकार दो अदष्टों की कल्पना करनी पड़ती है। अतएव यहाँ पर प्रतिषेध का आश्रय न करके नञर्थ के साथ अनुयाज का सम्बन्ध स्वीकार करके पर्युदास का ही आश्रयण है।

इससे पूर्व 'पर्युदास' के स्वरूप पर संक्षिप्त विचार किया गया है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' का तात्त्विक अर्थ यह माना गया था कि यह निषेध वाक्य पर्युदास के आश्रय से 'ये यजामहं....' इस वाक्य द्वारा विहित सामान्य शास्त्र के विधान का वस्तुतः 'संकोचन' एक विशेष स्थल में करने के लिए प्रवत्त हुआ है। परन्तु संशय यह होता है कि ठीक इसी प्रकार का संकोच 'उपसंहार' द्वारा भी किया जाता है क्योंकि उपसंहार का ग्रन्थ प्रदत्त लक्षण ही है–'सामान्यशास्त्रस्य विशेषे संकोचनम् अतः सामान्य दष्टि से पर्युदास एवं उपसंहार में भेद नहीं प्रतीत होता। परन्तु ग्रन्थकार ने इस अभिप्राय का खण्डन करके प्रकृत सन्दर्भ में 'पर्युदास' एवं 'उपसंहार' के भेदक तत्त्व पर विचार किया है।

'उपसंहार' को समझाते हुए ग्रन्थकार ने 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' एवं 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' को क्रमशः सामान्य शास्त्र एवं विशेष शास्त्र के दष्टान्त रूप उपन्यस्त किया है। दर्शपूर्ण मास में अग्नि एवं सोम तथा 'इन्द्र एवं अग्नि' देवताओं के लिए क्रमशः आग्नेय, अग्नीषोमीय, एवं ऐन्द्राग्न संज्ञक पुरोडाशों का विधान है। इस प्रसंग में 'पुरोडाशं चतुर्धा करोति' का पाठ है–यही सामान्य शास्त्र है परन्तु 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' यह विशेष शास्त्र 'पुरोडाश के चतुर्धाकरण रूप' विधेय का संकोच आग्नेय पुरोडाशमात्र में कर देता है इसी श्रुतार्थ के संकोच को मूलग्रन्थ में 'तन्मात्रसंकोचार्थः' कहा है। परन्तु पर्युदास इससे भिन्न है। 'अनुयाजेषु ये यजामहं न करोति' पर्युदास का दष्टान्त है। ये यजामहं का विधान 'यजतिषु ये यजामहं करोति' इस वाक्य द्वारा समस्त यागों के लिए किया गया है। लेकिन 'अनुयाजेषु...' आदि वाक्य 'ये यजामह' विधान को अनुयाज के अतिरिक्त यागों के लिए विहित करता है। इसको 'तदन्यमात्रसंकोच' कहा है। अतः यह पर्युदास का दष्टान्त माना गया है।

पर्युदास एवं उपसंहार के भेदनिरूपण के अनन्तर ग्रन्थकार ने एक अन्य महत्त्वपमर्ण विषय की चर्चा प्रस्तुत की है। ऐसा माना जाता है कि कहीं–कहीं पर्युदास भी संभावना न होने पर 'विकल्प' होता है ओर इस तरह 'नञर्थ' से प्रत्ययार्थ का अन्वय भी किया जाता है ऐसी विशेष स्थिति में विकल्प प्रसक्ति को नञर्थ से प्रत्ययार्थ के अन्वित होने में बाधक भी नहीं माना जाता है। इस निर्णीत तथ्य को 'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' एवं 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' द्वारा समझा जा सकता है। विकल्प का स्वरूप–'शास्त्र विहितस्य शास्त्रान्तरेण प्रतिषेधे विकल्प एव।' प्रसंगतः यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिये कि नञर्थ के दो भेद हैं–(१) निषेध एवं (२) पर्युदास। जहाँ प्रत्ययार्थ के साथ अन्वय रहेगा वहाँ निषेध अर्थ होता है एवं उत्तर पदार्थ के साथ अन्वय रहने पर 'पर्युदास' होता है। 'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' में पर्युदास की संभावना नहीं है क्योंकि 'नातिरात्रे' इस दष्टान्त में नञर्थ का अन्वय 'षोडशि पदार्थ' के साथ करने से 'अतिरात्र में षोडशिभिन्न पदार्थ का ग्रहण करे' ऐसा वाक्यार्थ होगा परन्तु इस विधान का 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णति' इस विधिवाक्य से साक्षात् विरोध होगा। इसी प्रकार नञर्थ का अन्वय 'अतिरात्र' से करने पर 'अतिरात्रभिन्न में षोडशिग्रहण करे' यह वाक्य बोध होगा। परन्तु यह भी संभव नहीं है क्योंकि इसका भी विरोध प्रत्यक्षश्रुत वाक्य 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' से हो जाएगा। अतः प्रकृत स्थल में पर्युदास का आश्रयण असंभव है। इसलिए सामान्य शास्त्र से विहित षोडशी ग्रहण का पाक्षिक निषेध होना है। अतः विकल्प प्रसक्ति को दोष न मानकर उसे स्वीकार कर लेने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। इस प्रसंग में याज्ञिक प्रक्रिया सम्बन्धित विशद विवेचन 'अर्थालोक टीका' में देखना चाहिये।

'नातिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' एवं 'अतिरात्रे षोडशिनं गह्णाति' ये दोनों ही वाक्य शास्त्र प्राप्त हैं ऐसा हम पहले दे चुके हैं। नियम यह है कि शास्त्र द्वारा विहित पदार्थ का यदि शास्त्रान्तर से प्रतिषेध हो तो विकल्प की प्रसक्ति होती है। अतः इसके अनुसार 'षोडशिग्रहण' में भी विधि एवं निषेध वैकल्पिक है। पूर्वपक्ष ने इसी विधान के सम्बन्ध में संशय किया है कि यदि 'षोडशी ग्रहण' में विधि एवं निषेध दोनों विहित होने से 'विकल्प' संभव है तो शास्त्र द्वारा दान एवं होम करने की विधि में, एवं 'दीक्षितो न ददाति न जुहोति' वाक्य से प्राप्त दान एवं होम के निषेध में भी विकल्प मानना चाहिये। परन्तु यह मन्तव्य ठीक नहीं है क्योंकि षोडशिग्रहण के उदाहरण में और पूर्वपक्ष प्राप्त उदाहरण में अन्तर है। 'षोडशि ग्रहण' में विधायकता एवं अग्रहण रूप निषेध्यता दोनों की याग के उपकारक हैं ओर यज्ञ में वैगुण्य नहीं उत्पन्न करते हैं। भाव यह है कि प्रत्येक पक्ष परस्पर विरोध न करता हुआ 'क्रत्वर्थ' होता है। अतः कहा है–'विधिनिषेधोमयस्यापि क्रत्वर्थत्वात्' परन्तु कलजादि भक्षण रागतः प्राप्त है शास्त्र प्राप्त नहीं है। शास्त्र ने तो कलजादि भक्षण को अनर्थ का हेतु बतलाते हुये उसका निषेध किया है। इस प्रकार यह मानना पड़ता है कि 'कलजभक्षण' की भाँति 'अतिरात्र में षोडशी ग्रहण' अनर्थकारी नहीं है।

इसी तरह दान होमादि के शास्त्र विहित होने पर भी मीमांसक सम्प्रदायानुसार दीक्षित के लिए उसका निषेध विहित है। प्रश्न यह है कि इन दोनों में 'विकल्प प्रसक्ति' क्यों नहीं है ? इसका समाधान करते हुये लिखा है–

'स्वतः पुरुषार्थभूतदानहोमादीनां निषेधस्य पुरुषर्थत्वाभावेपि निषिध्यमानस्यानर्थहेतुरत्वात्।'

आशय यह है कि 'षोडशि' ग्रहण की विधि एवं प्रतिषेध दोनों ही क्रत्वर्थ हैं अतः विकल्प संभव है परन्तु दान होमादि

पुरुषार्थ है। परन्तु इनका निषेध दीक्षित के लिये इस कारण विहित है क्योंकि दीक्षित द्वारा इनके अनुष्ठान से यज्ञ वैगुण्य उपस्थित होगा। इस प्रकार इनका निषेध क्रत्वर्थ माना जाता है अतः विकल्प नहीं होगा। इस सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट करने हेतु एक और दष्टांत 'न स्त्रियमुपेयात्' इस दर्शपूर्णमास प्रकरण पठित वाक्य द्वारा दिया गया है। आशय यह है कि स्वस्त्रीगमन पुरुषार्थ है जो कि शास्त्र एवं राग दोनों से ही प्राप्त है परन्तु क्रतु में स्वस्त्रीगमन अनर्थ का हेतु माना है लेकिन इससे विकल्प की प्रसक्ति नहीं सिद्ध होती। अतः यह मानना चाहिये कि निषेध वाक्य अनर्थ हेतु क्रिया की निवत्ति द्वारा ही पुरुषार्थ साधक होते हैं।

(६५) प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः। तस्य च लक्षणया प्रयोजनवदर्थपर्यवसानम्। तथा हि-अर्थवादवाक्यं हि स्वार्थप्रतिपादने प्रयोजनाभावाद्विधेयनिषेध्ययोः प्राशस्त्यनिन्दितत्वे लक्षणया प्रतिपादयति, स्वार्थमात्रपरत्वे आनर्थक्यप्रसङ्गात्। आम्नायस्य हि क्रियार्थत्वात्। न चेष्टापत्तिः। 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इत्यध्ययनविधिना सकलवेदाध्ययनं कर्तव्यमिति बोधयता सर्ववेदस्य प्रयोजनवदर्थपर्यवसायित्वं सूचयतोपात्तार्थत्वेनानर्थक्यानुपपत्तेः।

प्रशंसा और निन्दा में से एक का प्रतिपादक वाक्य अर्थवाद है। उसका–अर्थवाद का–प्रयोजनवान् अर्थ में पर्यवसान लक्षणा से होता है। जैसे कि–अपने मुख्य अर्थ के प्रतिपादन में प्रयोजन का अभाव होने से अर्थवाद वाक्य विधेय एवं निषेध्य पदार्थों की उत्कृष्टता और अपकृष्टता का प्रतिपादन लक्षणा से कराता है। यदि अपने मुख्य अर्थमात्र का ज्ञापक होगा तो उसमें अनर्थकता की आपत्ति होगी, क्योंकि वेदों की सार्थकता क्रिया के प्रतिपादन में है। (वेदवाक्यों की अनर्थकता) अभीष्ट नहीं है, क्योंकि 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस अध्ययन के विधायक वाक्य द्वारा 'सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करना चाहिये' यह बोध कराते हुये सम्पूर्ण वेदों का प्रयोजनवत् अर्थ–धर्म–में पर्यवसान सूचित किया जाता है, यही वेद का अर्थ मान्य होने से आनर्थक्य की उपपत्ति नहीं होती।

स द्विविधः - विधिशेषो निषेधशेषश्चेति। तत्र 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इत्यादिविधिशेषस्य 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवते'त्यादेर्विधेयार्थप्राशस्त्यबोधकतयार्थवत्त्वम्। 'बर्हिषि रजतं न देय'मित्यादिनिषेधशेषस्य, 'सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वमि'त्यादेर्निषेध्यस्य निन्दितत्वबोधकतयार्थवत्त्वम्। न च प्राशस्त्यादिबोधस्य निष्प्रयोजनत्वेन नार्थवादस्यार्थवत्त्वमिति वाच्यम, आलस्यादिवशादप्रवर्तमानस्य पुंसः प्रवत्त्यादिजनकत्वेन तद्बोधस्योपयोगात्।

वह अर्थवाद दो प्रकार का है–विधिशेष और निषेधशेष। इनमें 'वायव्यं श्वेत०' वैभव का इच्छुक श्वेत पशु का आलम्भन वायु देवता के लिये करे–इत्यादि विधि के शेष अंश के रूप से विद्यमान "वायुर्वै०" वायु तीव्र गति वाला देवता है–आदि की सार्थकता विधेय कर्म के प्राशस्त्य का ज्ञापन कराने में है। 'बर्हिषि रजतं'–यज्ञ में रजत नहीं देना चाहिये–इत्यादि निषेध का शेष 'सोरोदीत्०'–वह रोया, जो रोया वही रुद्र की रुद्रता है–आदि वाक्यों की सार्थकता निषेध्य रजत आदि की निन्दितता के बोधन में है। यह नहीं कहना चाहिये कि प्राशस्त्य आदि बोध निरर्थक होता है, अतः अर्थवाद की भी व्यर्थता ही है' क्योंकि आलस्य आदि के कारण कर्म में प्रवत्त न हो रहे पुरुष में प्रवत्ति आदि उत्पन्न करने के कारण उसके ज्ञान की उपयोगिता है।

विशेष :- ग्रन्थ के अन्तिम भाग 'अर्थवाद' का निरूपण किया जा रहा है। अर्थवाद विधेय अर्थ की प्रशंसा करता है एवं निषिद्ध अर्थ की निन्दा। परन्तु यह मुख्यार्थ या अभिधेयार्थ द्वारा अपने तात्पर्यार्थ की अभिव्यक्ति नहीं करता अपितु शब्द की लक्षण शक्ति का आश्रय ग्रहण करता है। समस्त वेद को मीमांसक क्रियापरक मानता है क्योंकि उसके मत में यागादि क्रिया द्वारा ही इष्ट प्राप्ति एवं अनिष्ट का परिहार किया जा सकता है। वेद के अध्ययन का विधान 'स्वाध्यायोध्येतव्यः' इस विधिवाक्य से हुआ है। अर्थवाद भी वेद में ही अन्तर्भूत है अतः अर्थवाद को भी क्रियापरक मानना उचित है। लेकिन अर्थवाद का स्वरूप विधेय की प्रशंसा एवं निषिद्ध की निन्दा में प्रकट होता है। विधान एवं निषेध क्रिया ही होता है। अतः अर्थवाद वाक्य परम्परया क्रियापरक अर्थात् धर्मपरक होते हैं अतः अर्थवाद वाक्यों को निरर्थक नहीं मानना चाहिये। ये दो भेद होते हैं–(१) विधिशेष एवं (२) निषेध शेष।

अर्थवाद के पहले भेद की 'विधि शेष' संज्ञा है क्योंकि यह विधेय अर्थ की प्रशंसा द्वारा विधिवाक्य का पूरक माना जाता है। महर्षि जैमिनि ने लिखा है–'विधिना स्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यधेन विधीनां स्यु' अर्थात् विधि एवं अर्थवाद (=विधिशेष) की एक वाक्यता मानी जाती है क्योंकि दोनों मिलकर एक समग्रवाक्य की रचना करते हैं। अतः 'अर्थवाद' को विधि शेष कहना उचित है। इसी पद्धति से निषेध वाक्य की पूर्णता हेतु निन्दापरक अर्थवारों की उपयोगिता भी असंदिग्ध है।

विधि शेष का उदाहरण है 'वायुर्वक्षेपिष्ठा देवता'। इसकी 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' विधिवाक्य से एकवाक्यता होती है। यहाँ 'वायुर्वै.....' इत्यादि अर्थवाद से प्रशंसा की गई है जिससे यह लक्षणा द्वारा विदित होता है कि वायुर्देवता शीघ्रगामी है अतः वह ऐश्वर्य भी शीघ्र ही प्रदान करता है। इसको सुनकर अधिकारी व्यक्ति की प्रवत्ति होना स्वाभाविक है।

निषेध वाक्य का दष्टान्त 'वर्हिषि रजतं न देयम्' है। रजतदान की निन्दा 'सोरोदीद्यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रूद्रत्वम्' इस निन्दापरक अर्थवाद से हुई है। आशय यह है कि रजतदान करने से व्यक्ति को दुःख प्राप्ति होती है उसी का लाक्षणिक प्रयोग 'रुदन क्रिया' द्वारा ज्ञात हो रहा है। अतः निषिध्यमान रजत दानादि निन्दा का ज्ञान हो जाने पर बुद्धिमान व्यक्ति इस प्रकार के दान से निवत्त हो जाता है अतः रोदनादि रूप अभीष्ट प्रसंग से भी उसकी मुक्ति हो जाती है।

अर्थवादस्य भेदत्रयम्

(६६) स पुनस्त्रेधा। तदुक्तम्-'विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः' इति। अस्यार्थः- प्रमाणान्तरविरोधे सत्यर्थवादो गुणवादः, यथा 'आदित्यो यूप' इत्यादिः। यूप आदित्याभेदस्य प्रत्यक्षबाधितत्वादादित्यवदुज्ज्वलत्वरूपगुणोनेन लक्षणया प्रतिपाद्यते। प्रमाणान्तरावगतार्थबोधकोर्थवादोनुवाद, यथा 'अग्निर्हिमस्य भेषजमि'ति, अत्र हिमविरोधित्वस्याग्नौ प्रत्यक्षावगतत्वात्। प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थ-बोधकोर्थवादो भूतार्थवादः, 'यथा इन्द्रो वत्राय वज्रमुदयच्छ'दित्यादिः।

वह अर्थवाद प्रकारान्तर से तीन प्रकार का होता है—वह कहा गया है—कथित विषय का प्रमाणान्तर से विरोध होने पर 'गुणवाद' होता है, प्रमाणान्तर से विषय के ज्ञात होने पर 'अनुवाद' और विरोध तथा समर्थन दोनों न होने पर भूतार्थवाद होता है। इस प्रकार अर्थवाद तीन प्रकार का माना गया है। इसका अर्थ यह है कि—दूसरे प्रमाण से विरोध होने पर गुणवाद नाम का अर्थवाद होता है। जैसे—'आदित्यो यूपः'—यज्ञस्तम्भ सूर्य है—आदि में। यूप में आदित्य का अभेद प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने के कारण इस वाक्य से लक्षणा द्वारा उसका आदित्य के सदश उज्ज्लत्व गुण प्रतिपादित किया जा रहा है। दूसरे प्रमाण से ज्ञात पदार्थ का ज्ञापक अर्थवाद 'अनुवाद' है—जैसे—'अग्निर्हिमस्य०' आदि—अग्नि ठंडक की दवा है—वाक्य। यहाँ प्रतिपादित हिमविरोधित्व का ज्ञान अग्नि में प्रत्यक्षप्रमाण से ही अवगत हो जाता है। दूसरे प्रमाण से होने वाले बाध और बोध दोनों से रहित विषय का ज्ञापक अर्थवाद 'भूतार्थवाद' है। जैसे "इन्द्रो०"—'इन्द्र ने वत्र को मारने के लिये वज्र उठाया' आदि।

विशेष :- अर्थवाद का प्रथम विभाजन विधि और निषेध के आधार पर हुआ। यहाँ अन्य प्रमाणों से प्रतिपादकता के आधार पर उसको तीन प्रकार का बताया गया है। वे तीन प्रकार हैं :—

(१) गुणवाद, (२) अनुवाद एवं (३) भूतार्थवाद।

(१) 'गुणवाद' संज्ञक अर्थवाद में प्रणिपाद्य अर्थ का किसी अन्य प्रमाण से विरोध होता है। यथा 'आदित्यो यूपः' ञमें यूप का आदित्य के साथ अभेद प्रतिपाद्य विषय है। परन्तु यूप आदित्य नहीं है, यह प्रत्यक्षतः सिद्ध है। इस प्रकार मुख्यार्थ भी बाधित हो रहा है। अतः अर्थावबोध के लिए लक्षणा का आश्रय लेकर यूप का, "उज्ज्वलत्वादिगुणयोगेनादित्यात्मकत्वं" अर्थात् आदित्य की तरह यूप भी उज्ज्वलत्वादि गुण सम्पन्न है, अर्थ करना पड़ता है।

(२) 'अनुवाद' नामक अर्थवाद में किसी अन्य प्रमाण से अर्थ का बोध होता है। प्रतिपाद्य विषय में केवल उसका 'अनुवाद' मात्र रहता है। इसका दष्टान्त है अग्निर्हितस्य भैषजम्' यहाँ प्रत्यक्षतः पहले से ही सिद्ध है कि अग्नि शैत्य की औषधि है। इसी पूर्वज्ञात विषय का प्रकाशन इस उदाहरण में किया गया है अतः 'अनुवाद' कहा जाता है।

(३) 'भूतार्थवाद' संज्ञक अर्थवाद में 'भूतार्थ' शब्द से पहले घटित किसी यथार्थ वस्तु के ज्ञापन से है। इस प्रकार प्रतिपादित अर्थ से 'गुणवाद अर्थवाद' की भाँति किसी प्रमाणान्तर से विरोध नहीं होता अतः ग्रन्थकार ने इसका लक्षण करते हुए कहा है—

'प्रमाणान्तरविरोधत्प्राप्तिरहितार्थबोधकोर्थवादो भूतार्थवादः।'

यहाँ एक बात और ध्यातव्य है। अर्थवाद के तीन भेदों का निरूपण करने वाली कारिका में भूतार्थवाद के लक्षण प्रतिपादनप्रसंग में 'तद्धानात्' का प्रयोग है। इसका अर्थ 'विरोध—अवधारित—हानात्' अर्थात् प्रमाणान्तरविरोधतत्प्राप्तिरहितार्थबोधकः है। 'इन्द्रो वत्राय वज्रमुदयच्छत्' भूतार्थवाद का उदाहरण है। कहीं भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे इस कथन का विरोध हो। अतः प्रमाणान्तर अविरोध है। एवं ऐसा भी प्रमाण नहीं है जिससे समर्थन हो सके। अतः 'प्रमाणान्तर व धारण' भी नहीं हो सकता। इसलिये इन दोनों के अभाव में उद्धत वाक्य को भूतार्थवाद का दष्टान्त माना गया है।

(६७) एवं च 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादिनिखिलवेदस्य साक्षात्परम्परया वा यागादिधर्मप्रतिपादकत्वं सिद्धम्। सोयं धर्मो यदुद्दिश्य विहितस्तदुद्देशेन क्रियमाणस्तद्धेतुः। ईश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्तु निश्रेयसहेतुः। न च तदर्पणबुद्ध्यानुष्ठाने प्रमाणाभावः, 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणमि'ति भगवद्गीतास्मतेरेव प्रमाणत्वात्। स्मतिचरणे तत्प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनादिति शिवम्।।

बालानां सुखबोधाय भास्करेण सुमेधसा।

रचितोयं समासेन जैमिनीयार्थसंग्रहः।।

इति श्रीमहामहोपाध्यापलौगाक्षिभास्करविरचितपूर्वमीमांसार्थसंग्रहनामकं प्रकरणं समाप्तिमगात्।

इस प्रकार 'यजेत स्वर्गकामः' इत्यादि समस्त वेद की साक्षात् अथवा परम्परया यागादि धर्म की प्रतिपादकता सिद्ध होती है। वही यह धर्म जिसको लक्ष्य करके विहित होता है, उसी के लिये किया जाता हुआ उसका हेतु बनता है। ईश्वर को अर्पित करने की भावना से सम्पन्न किया जाता हुआ याग मोक्ष का साधन होता है। उसकी अर्पण करने की भावना से अनुष्ठान–सम्पादन को सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की कमी नहीं है। क्योंकि भगवद्गीतारूपी स्मति में ही–जो करते हो, जो खाते हो, जो होम करते और जो दान देते हो, और जो तपस्या करोगे, उसे, हे अर्जुन ! तुम मुझे अर्पित कर दो। आदि वाक्य प्रमाण है। मीमांसासूत्र के स्मतिपाद (१।३) में स्मति की प्रामाणिकता श्रुतिमूलक होने से व्यवस्थित है। जैमिनि–प्रतिपादित विषयों का संकलन अर्थसंग्रह संक्षेप में बालकों के बोध के लिये बुद्धिमान भास्कर ने किया।

विशेष :- विधि, मन्त्र, नामधेय निषेध एवं अर्थवाद रूप में वेद पाँच भागों में विभक्त है। इनका क्रमशः निरूपण पिछले विभागों में किया गया है। लौगाक्षिभास्कर ने इन पंक्तियों में अपने ग्रन्थ का उपसंहार किया है। इस प्रसंग में यह ध्यान देने लायक बात है कि मीमांसा दर्शन के प्रथम सूत्र 'अथातो धर्म जिज्ञासा' के अनन्तर ही 'चोदनालक्षणोर्थो धर्मः' इस द्वितीय सत्र द्वारा महर्षि जैमिनी ने धर्म के स्वरूप का निरूपण किया है। इस सूत्र को ही आधार मानकर अर्थसंग्रहकार ने 'वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवान् अर्थः यागादिः: धर्म लिखा है। पुनः वेद का प्रतिपाद्य विषय की दष्टि से उपरिलिखित पाँच भागों में विभाजन किया गया। आशय यह है कि इनके द्वारा भी प्रतिपादित यागादि धर्म होगा। इनमें से कुछ साक्षात् और कुछ परम्परा से वेदविहित यागादि रूप धर्म के प्रतिपादक हैं।

धर्मानुष्ठान से फलप्राप्ति आवश्यक रूप से होती है। जिसकी प्राप्ति के लिये यागादि किया जायेगा वह भी अवश्य फल मिलेगा। यदि अनुष्ठान ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाता है तो इसे श्रेष्ठ मानकर इससे मोक्ष प्राप्तिरूपी फल बताया गया है। इस सिद्धान्त की पुष्टि में भगवद्गीता का वचन उद्धत किया गया है। श्रीमद् भगवद्गीता की गणना स्मतियों में है और स्मत्यधिकरण में जैमिनि प्रतिपादित सिद्धान्त के अनुसार वेदमूलक होने से इनका भी प्रमाण माना गया है।

वेदान्तसार

भूमिका

'वेदान्त' का अर्थ :—'वेदान्त' का शाब्दिक अर्थ है 'वेदों का अन्त'। आरम्भ में उपनिषदों के लिए 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग हुआ किन्तु बाद में उपनिषदों के सिद्धान्तों को आधार मानकर जिन विचारों का विकास हुआ, उनके लिए भी 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग होने लगा। उपनिषदों के लिए वेदान्त' शब्द के प्रयोग के प्रायः तीन कारण दिये जाते हैं :—

(१) उपनिषद् 'वेद' के अन्त में आते हैं। 'वेद' के अन्दर प्रथमतः वैदिक संहिताएँ—ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व आती हैं और इनके उपरान्त ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् आते हैं। इस साहित्य के अन्त में होने के कारण उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं।

(२) वैदिक अध्ययन की दष्टि से भी उपनिषदों के अध्ययन की बारी अन्त में आती थी। सबसे पहले संहिताओं का अध्ययन होता था। तदुपरान्त गहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर यज्ञादि गहस्थोचित कर्म करने के लिए ब्राह्मण—ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ती थी। वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर आरण्यकों की आवश्यकता होती थी, वन में रहते हुए लोग जीवन तथा जगत् की पहेली को सुलझाने का प्रयत्न करते थे। यही 'उपनिषद् के अध्ययन तथा मनन की अवस्था थी।

ञ(३) उपनिषदों में वेदों का 'अन्त' अर्थात् वेदों के विचारों का परिपक्व रूप है। यह माना जाता था कि वेद—वेदांग आदि सभी शास्त्रों का अध्ययन कर लेने पर भी बिना उपनिषदों की शिक्षा प्राप्त किये हुए मनुष्य का ज्ञान पूर्ण नहीं होता था।

आचार्य उदयवीर शास्त्री के अनुसार 'वेदान्त' पद का तात्पर्य है—वेदादि में विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अन्त में जो तत्त्व जाना जाये उस तत्त्व का विशेष रूप से यहाँ निरूपण किया गया हो, उस शास्त्र को 'वेदान्त' कहा जाता है।

वेदान्त का साहित्य :— जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है 'वेदान्त' शब्द मूलतः उपनिषदों के लिए प्रयुक्त होता था। अलग—अलग संहिताओं तथा उनकी शाखाओं से सम्बद्ध अनेक उपनिषद् हमें प्राप्त हैं। जिनमें प्रमुख तथा प्राचीन हैं – ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य तथा बहदारण्यक। इन उपनिषदों के दार्शनिक सिद्धान्तों में काफी कुछ समानता है किन्तु अनेक स्थानों पर विरोध भी प्रतीत होता है। कालान्तर में यह आवश्यकता अनुभव की गई कि विरोधी प्रतीत होने वाले विचारों में समन्वय स्थापित कर सर्वसम्मत उपदेशों का संकलन किया जाये। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की जिसे वेदान्त सूत्र, शारीरकसूत्र, शारीरकमीमांसा या उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। इसमें उपनिषदों के सिद्धान्तों को अत्यन्त संक्षेप में, सूत्र रूप में संकलित किया गया है। अत्यधिक संक्षेप होने के कारण सूत्रों में अपने आप में अस्पष्टता है और उन्हें बिना भाष्य या टीका के समझना सम्भव नहीं है। इसीलिए अनेक भाष्यकारों ने अपने—अपने भाष्यों द्वारा इनके अभिप्राय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया किन्तु इस स्पष्टीकरण में उनका अपना—अपना दष्टिकोण था और इसीलिये उनमें पर्याप्त मतभेद है। प्रत्येक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि उसका भाष्य ही ब्रह्मसूत्रों क वास्तविक अर्थ का स्पष्टीकरण करता है। फलतः सभी भाष्यकार एक—एक वेदान्त सम्प्रदाय के प्रवर्तक बन गये। इनमें प्रमुख है शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्व का द्वैतवाद, निम्बार्क का द्वैताद्वैतवाद तथा वल्लभ का शुद्धाद्वैतवाद। इन भाष्यों के अनन्तर इन भाष्यों पर टीकाएँ तथा टीकाओं पर टीकाओं का क्रम चला। अपने—अपने सम्प्रदाय के मत को पुष्ट करने के लिए अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों की भी रचना हुई, जिनसे वेदान्त का साहित्य अत्यन्त विशाल हो गया।

वेदान्त की परम्परा का अन्तिम अध्याय सदानन्द योगी ने वेदान्त दर्शन में वेदान्तसार के रूप में जोड़ा। १६वीं शताब्दी में रचित 'वेदान्तसार' वेदान्त के सिद्धान्तों में सरलता से प्रवेश करने का मार्ग प्रशस्त करता है। इस दष्टि से यह सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है।

२. लेखक तथा ग्रन्थ-परिचय :— वेदान्तसार के लेखक : सदानन्द योगीन्द्र सरस्वती हैं। इनके शिष्य कृष्णानन्द सरस्वती थे जिनके शिष्य नसिंहसरस्वती ने वेदान्तसार के ऊपर सुबोधिनी नामक टीका लिखी थी। सुबोधिनी के लिखे जाने का समय शक सम्वत् १५१० अर्थात् १५८८ ई० है। अतः सदानन्द अवश्य ही इस तिथि के पूर्व हुए होंगे। सदानन्द ने १३८६ ई० के बाद तथा १५८८ ई० के पूर्व हुए। सम्भवतः उनका समय पन्द्रहवीं श० ई० का उत्तरार्ध या सोलहवीं श० ई० का आरम्भ था।

सदानन्द के गुरु, जैसा कि उनके मंगलाचरण से प्रकट होता है, अद्वयानन्द सरस्वती थे। सदानन्द स्वयं भी 'सरस्वती' उपाधि से विभूषित थे। यह उपाधि शांकर–वेदान्त के संन्यासियों की दस उपाधियों में से एक सम्मानित उपाधि है। इस उपाधि से विभूषित संन्यासियों में अद्वैतसिद्धि के लेखक मधुसूदनसरस्वती तथा ब्रह्मानन्दीयम् के लेखक ब्रह्मानन्दसरस्वती जैसे विद्वान् हुए थे। सदानन्द स्वयं भी अत्यन्त विद्वान् थे। उनके वेदान्तसार द्वारा हमें अद्वैत–वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्यों, उदाहरणतः गौडपाद, शंकर, पद्मपाद, हस्तामलक, सुरेश्वराचार्य, वाचस्पतिमिश्र, श्रीहर्ष तथा विद्यारण्य के सिद्धान्तों में प्रवेश प्राप्त होता है। इन सभी के सन्दर्भ हमें वेदान्तसार में प्राप्त होते हैं। अतः यह निश्चित है कि सदानन्द ने इन सभी आचार्यों की कृतियों का अध्ययन किया होगा। इससे अधिक कुछ वेदान्तकार के रचयिता के विषय में ज्ञात नहीं होता।

वेदान्तसार के मूल-स्त्रोत :– वेदान्तसार के रचयिता ने अपने ग्रन्थ के लेखन में प्रायः सभी पूर्ववर्ती प्रमुख अद्वैत वेदान्त के ग्रन्थों का आश्रय लिया है। इनके आश्रित ग्रन्थों में सर्वप्रमुख हैं शंकराचार्य का शारीरकभाष्य जिनके सिद्धान्तों के आधार पर इसका मूल ढांचा खड़ा है। उपनिषदों को भी विशेष रूप में, माण्डूक्योपनिषद् को आश्रय बनाया गया है जहाँ से श्रुति–प्रमाण के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त अन्य वेदान्त मनीषियों के उद्धरण भी बहुलता से दिये हैं।

वेदान्तसार का महत्व :– अद्वैत–वेदान्त अपने आप में एक गूढ़ विषय है। अद्वैत–वेदान्त के आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है जिन्होंने वेदान्त के सिद्धान्तों का विकास कर उसको एक समद्ध दर्शन का रूप दिया है। इन आचार्यों के सिद्धान्तों में प्रवेश करना कोई सरल कार्य नहीं है। वेदान्तसार के रचयिता ने इस कठिन कार्य को सुगम कर दिखाया है। अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों का एक समन्वित, संक्षित तथा सरल रूप हमें वेदान्तसार में प्राप्त होता है।

शैली की दष्टि से भी वेदान्तसार एक सरल तथा सम्पुष्ट ग्रन्थ है। वेदान्त के अनेक आचार्यों की कृतियों को पढ़ने पर पाठक उनके वाग्जाल में खोकर रह जाता है। वेदान्तसार में ऐसा कुछ नहीं है। लेखक ने अत्यन्त सरल शैली में केवल सम्बद्ध विषय की बात कही है। विषय तथा शैली दोनों दष्टियों से सुगम होने के कारण वेदान्तसार अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिए प्रवेशद्वार का कार्य करता है। बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "वेदान्तसार को सरल विवेचन के कारण वेदान्त को पढ़ने का प्रारम्भिक क्रम कह सकते हैं।" यही इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का रहस्य है। प्रायः देशी तथा विदेशी अधिकांश विद्यालयों में अद्वैत–वेदान्त के सिद्धान्तों में प्रवेश पाने के लिए वेदान्तसार का उपयोग किया जाता है।

वेदान्तसार : एक प्रकरण ग्रन्थ :– वेदान्तसार को लेखक ने स्वयं एक प्रकरण–ग्रन्थ बतलाया है–'अस्य वेदान्तप्रकरणत्वात् तदीयैरेवानुबन्धैस्त्तद्वत्तासिद्धेर्न ते पथगालोचनीयाः।' प्रकरण की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है :–

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम्।
आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः।।

अर्थात् 'शास्त्र के अंश से सम्बद्ध तथा शास्त्र के (विशिष्ट) विषय के अन्दर स्थित (ग्रन्थ) को विद्वान् लोग प्रकरण नामक ग्रन्थ का भेद कहते हैं।' इस परिभाषा के अनुसार 'प्रकरण' सम्पूर्ण शास्त्र के विषय से सम्बद्ध न होकर उसके किसी विशिष्ट विषय से सम्बद्ध होना चाहिए। 'प्रकरण' शब्द जब ग्रन्थ के अंग के अर्थ में आता है तब तो सदैव ऐसा ही होता है किन्तु जब यह स्वतन्त्र ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त होता है तो हम सदैव उसमें शास्त्र के एक ही विषय का विवेचन प्राप्त नहीं करते। कुछ प्रकरण तो अवश्य ऐसे पाये जाते हैं जहाँ शास्त्र के एक ही विषय का निरूपण है, जैसे शंकराचार्यकृत 'पचीकरणप्रक्रिया', किन्तु अधिकांश प्रकरण–गन्थ ऐसे हैं जिनमें शास्त्र के सम्पूर्ण विषयों का संक्षेप में विवेचन है। न्याय–वैशेषिक के सप्तपदार्थी, तर्कसंग्रह, तर्कभाषा आदि ग्रन्थ ऐसे ही हैं। वेदान्त के भी वेदान्तपरिभाषा वेदान्तसार आदि ग्रन्थ इसी प्रकार के हैं। वेदान्तसार में अद्वैत–वेदान्त के सभी विषयों का संक्षिप्त निरूपण हमें प्राप्त होता है, इसी अर्थ में इसे प्रकरण–ग्रन्थ कहा जा सकता है।

प्रमुख विवेचनीय विषय

१. **अनुबंध-चतुष्टय**
२. **आत्मा विवेचन**
३. **अज्ञान विवेचन**
४. **ईश्वर**
५. **जीव विवेचन**
६. **जीवन और ईश्वर का सम्बन्ध**
७. **अध्यारोप तथा सष्टि प्रक्रिया**
८. **महावाक्य विवेचन**

९. **समाधि विवेचन**

१०. **बन्धन तथा मोक्ष**

१. अनुबंध-चतुष्टय

वेदांतसार के रचयिता ने मंगलाचरण के तुरंत बाद 'अनुबंध–चतुष्टय' अर्थात् चार अनुबंधों को बतलाया है। 'अनुबंध' का शब्दार्थ होता है 'साथ बँधा हुआ' या 'निरंतर साथ रहने वाला' अथवा 'निमित्त'। किसी शास्त्रीय ग्रंथ के अध्ययन के पूर्व चारों अनुबंधों का ज्ञान आवश्यक होता है, अतः इनको ग्रंथ के निरंतर साथ रहने वाला या निमित्त माना जा सकता है। किसी ग्रन्थ के अध्ययन के पूर्व प्रायः हमें यह जिज्ञासा होती है कि इस ग्रंथ को पढ़ने का 'अधिकारी' कौन है, इस ग्रंथ का 'विषय' क्या है, ग्रंथ तथा विषय में क्या 'संबंध' है, तथा ग्रंथ के अध्ययन का 'प्रयोजन' क्या है। ये चारों – अधिकारी विषय, संबंध तथा प्रयोजन ही अनुबंध–चतुष्टय कहलाते हैं।

अधिकारी – वेदांत दर्शन के अधिकारी होने के लिए बतलायी गयी आवश्यकताओं को निम्नलिखित चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :–

(१) पहली आवश्यकता यह है कि वह 'प्रमाता' हो। 'प्रमाता' का शाब्दिक अर्थ होता है 'प्रमा' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान' से युक्त। मनुष्यों में प्रत्येक मनुष्य इसका अधिकारी नहीं होगा, वही मनुष्य होगा जिसमें नीचे दी जाने वाली अन्य विषेशताएँ पायी जाती हों, और उस स्थिति में वह 'प्रमाता' अर्थात् 'यथार्थ ज्ञान वाला' हो जायेगा।

(२) जिसने वेद तथा वेदांगों का विधिपूर्वक, अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि का पालन करते हुए गुरु के द्वारा, अध्ययन करके उनके अर्थ को सामान्यतः ग्रहण कर लिया है। किंतु यहाँ शंका हो सकती है कि वेद में उपनिषद् भी आ जाते हैं जिनके अध्ययन और अर्थ के ग्रहण से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो जायेगी और फिर उसके लिए वेदांतसार आदि ग्रंथ पढ़ने का कुछ प्रयोजन नहीं होगा। इस शंका का उत्तर यह है कि वेद और वेदांगों के अध्ययन से जीव को जो ज्ञान होगा वह 'सामान्य' ही होगा। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का किताबी ज्ञान सदैव 'परोक्ष' होता है, जबकि मोक्ष की प्राप्ति 'साक्षात् अनुभूति' द्वारा होती है। वेद–वेदांगों के अध्ययन से वह परोक्ष ज्ञान तो हो जायेगा किंतु उसके बाद वेदांत के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन आदि के द्वारा साक्षात् अनुभूति के होने पर ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकेगी। किंतु इस 'साक्षात्' ज्ञान के लिए पहले 'परोक्ष' ज्ञान होना आवश्यक है। इसलिए वेदांत के अध्ययन से पहले वेद–वेदांगों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है।

(३) इस जन्म में या पहले जन्म में 'काम्य' तथा 'निषिद्ध' कर्मों के त्यागपूर्वक 'नित्य', 'नैमित्तिक', 'प्रायश्चित' तथा 'उपासन' कर्मों के अनुष्ठान के सम्पूर्ण वासनाओं के नष्ट हो जाने के कारण जिसका अंतःकरण पूर्णतः स्वच्छ हो गया है।

भाव यह है कि वेदांत के अध्ययन के पहले अंतःकरण से राग आदि वासनाओं के नाश के द्वारा अंतःकरण का निर्मल होना आवश्यक है। अंतःकरण की स्वच्छता के लिए 'काम्य' तथा 'निषिद्ध' कर्मों का त्याग आवश्यक है। 'काम्य' से तात्पर्य है ऐसे कर्म जो किसी इष्ट की प्राप्ति के लिए किये जायें, जैसे स्वर्ग की प्राप्ति के लिए ज्योतिष्टोम यज्ञ। 'निषिद्ध' कर्म उन्हें कहा जाता है जो अनिष्ट के साधन हों, और इसलिए शास्त्र ने जिनका निषेध किया हो। उदाहरणार्थ ब्राह्मण–हत्या जो 'नरक' रूप अनिष्ट को प्राप्त कराती है। 'नित्य' कर्म उन्हें कहा जाता है जिन्हें नित्य करना आवश्यक हो जैसे संध्यावंदन आदि। ऐसे कर्मों के करने से कुछ लाभ तो नहीं होता किंतु न करने से हानि होती है। विशेष निमित्त अर्थात् कारण से या विशेष अवसर पर होने वाले कर्म 'नैमित्तिक' कहलाते हैं, जैसे पुत्र जन्म के कारण होने वाला जात–कर्म संस्कार। यह नित्य न होकर किसी अवसर–विशेष पर ही होगा। 'प्रायश्चित' से तात्पर्य ऐसे कर्मों से है जो किसी पाप–कर्म करने से होने वाले पाप से मुक्त होने के लिए किया जाये। शास्त्रों द्वारा बताये गये कर्मों को न करने से तथा शास्त्रों द्वारा निषिद्ध कर्मों के करने से पाप होता है। इस प्रकार के पाप से बचने के लिए शास्त्रों ने कुछ विशेष कर्मों का विधान किया है जिन्हें 'प्रायश्चित' कहा जाता है। 'उपासन' कर्म से तात्पर्य है ऐसा मन का व्यापार जिसमें मन को सगुण–ब्रह्म के प्रति एकाग्र किया जाये। इनमें नित्य, नैमित्तिक तथा प्रायश्चित कर्मों के करने से मन शुद्ध होता है तथा 'उपासन' कर्मों से एकाग्र होता है।

इस प्रकार के कर्मों का महत्त्व केवल मन को शुद्ध तथा एकाग्र करने के लिए है। यदि मन पहले से ही शुद्ध हो तो वेदाध्ययन के लिए इन कर्मों के त्याग या अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होगी। किन्तु मन तभी शुद्ध हो सकता है जबकि या तो उपर्युक्त कर्मों का त्याग तथा अनुष्ठान इस जन्म में किया गया हो या पूर्व–जन्म में। फलतः किसी एक जन्म में इन कर्मों का त्याग तथा अनुष्ठान आवश्यक है।

(४) जो साधन–चतुष्टय अर्थात् चार प्रकार के साधनों से संपन्न हो। ये चार प्रकार के साधन हैं –

(क) नित्यानित्यवस्तुविवेक – नित्य वस्तु अर्थात् ब्रह्म, तथा अनित्य वस्तु अर्थात् संसार आदि इन दोनों की पथक्ता का ज्ञान।

(ख) इहामुत्रर्थफलभोगविराग – इस संसार के विषयों, जैसे माला, चंदन, स्त्री आदि तथा परलोक के विषयों जैसे अमत आदि के फल के भोग के प्रति विरक्ति होना।

(ग) शमादि छः सम्पत्तियाँ – ये छः सम्पत्तियाँ हैं – शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान तथा श्रद्धा।

(घ) मुमुक्षुत्व – अर्थात् मोक्ष के प्रति इच्छा का होना।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं से युक्त पुरुष वेदांत के या वेदांतसार के अध्ययन का अधिकारी होगा।

विषय – वेदांत का विषय है – जीव तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन जो शुद्ध चैतन्य के रूप में है। यही प्रमाता रूप अधिकार का 'प्रमेय' अर्थात् 'सम्यक् ज्ञान का विषय' है।

संबंध – वेदांत या वेदांतसार तथा उपर्युक्त विषय का संबंध यह है कि विषय अर्थात् जीव तथा ब्रह्म की एकता रूप जो प्रमेय है, वह 'बोध्य' है, तथा वेदांत या वेदांतसार 'बोधक' है। दोनों में बोध्य–बोधक संबंध है।

प्रयोजन – वेदांत या वेदांतसार के अध्ययन का प्रयोजन है – जीव तथा ब्रह्म की एकता से संबंधित जो अज्ञान है उसका नाश और अज्ञान के नाश से प्रमाता को अपने स्वरूप अर्थात् शुद्ध ब्रह्म के आनंद की प्राप्ति।

२. आत्मा विवेचन

'आत्मा' के स्वरूप के विषय में प्रारम्भ से ही भारतीय ग्रंथों में पर्याप्त विवाद रहा है। ऋग्वेद में हम आत्मा को 'शरीर', 'प्राणवायु', 'वस्तु के तात्त्विक स्वरूप', 'चेतन सत्ता', 'आनन्ददायक' तथा 'निजवाचक सर्वनाम' अर्थो में प्राप्त करते हैं। दार्शनिक दष्टि से यदि देखा जाये तो आत्मा शब्द जब निजवाचक सर्वनाम के अर्थ में प्रयुक्त हुआ होगा तब प्रश्न उठा होगा कि 'आत्मा' अर्थात् 'मैं' क्या है। अपने ही स्वरूप या आत्मा के विषय में जिन विचारों का विकास हुआ उनको हम प्रथमतः दो भागों में बाँट सकते हैं – एक तो चार्वाक मत जिसके अनुसार यह शरीर ही आत्मा है तथा चैतन्य केवल इसका गुण है, तथा दूसरी ओर अन्य भारतीय दार्शनिक मत जिनके अनुसार शरीर तो जड़–वस्तु है, उसमें रहने वाला चेतन तत्त्व आत्मा है।

वेदांतसार में आत्मा–संबंधी बहुत–से मत दिये गये हैं जो अतिप्राकत से लेकर माध्यमिक बौद्धों के मत तक स्थूलता से क्रमशः सूक्ष्मता की ओर बढ़ते गये हैं। अंत में इन सभी मतों का खंडन करके सदानंद वेदांत के मत का प्रतिपादन करता है। इन मतों में वेदों को प्रमाण मानने वाले आस्तिक दर्शनों के साथ वेदों को प्रमाण न मानने वाले चार्वाक तथा बौद्ध रूप नास्तिक दर्शनों के मतों को भी दिया गया है और सभी के मतों के समर्थन में श्रुतियों के प्रमाण उद्धत नहीं कर सकते; यह इस ग्रंथ के रचयिता की अपनी ही कल्पना है। ग्रंथकार ने विभिन्न मतों के अनुरूप वाक्यों को श्रुति से लेकर यहाँ उद्धत कर दिया है। श्रुतियों में भी जहाँ से इन वाक्यों को उद्धत किया गया है, वहाँ इन वाक्यों का उद्देश्य आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझाना नहीं है। अतः इन मतों को पढ़कर यह नहीं समझना चाहिये कि सचमुच में श्रुति इन मतों को पुष्ट करती है, अथवा उस समय ऐसे व्यक्ति थे जो इन मतों को मानते थे। आरंभ में ग्रंथकार ने 'अतिप्राकत' मत को उद्धत किया है जिसके अनुसार पुत्र ही आत्मा है। पुत्र को प्रायः साहित्य में अपना स्वरूप माना गया है, यह माना जाता रहा है कि मनुष्य स्वयं अपने पुत्र के रूप में जन्म लेता है, इसलिए लाक्षणिक दष्टि से पुत्र को आत्मा कह दिया जाता है। किंतु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि किसी समय ऐसा दार्शनिक मत रहा होगा जो पुत्र को आत्मा मानता होगा। इसी प्रकार 'इन्द्रिय', 'प्राण', तथा 'मन' को आत्मा मानने वाले भी कोई दार्शनिक मत प्रतीत नहीं होते। स्पष्टतः वेदान्तसार के रचयिता का उद्देश्य इस प्रकार के मतों को उद्धत करने में कोई ऐतिहासिक तथ्य देना नहीं है, अपितु स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हुए सभी प्रकार की सम्भावनाओं का निरूपण करके, उनके खण्डनपूर्वक अपने मत का प्रतिपादन करना है। जिन मतों का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में किया गया है, उनमें जहाँ नास्तविक दार्शनिक मतों के रूप में हमें प्राप्त होते हैं वे हैं–चार्वाक, योगाचार बौद्ध, प्राभाकर मीमांसक, भा मामांसक, न्याय–वैशेषिक तथा माध्यमिक बौद्ध। अब हम अद्वैत–वेदान्त के मत का निरूपण करके तुलनात्मक दष्टि से अन्य दार्शनिक मतों का निरूपण करेंगे।

अद्वैत–वेदान्त आत्मा को तात्त्विक दष्टि से ब्रह्म से भिन्न नहीं मानता। हमारे शरीर में स्थित जो आन्तरिक चेतन तत्व है, वही आत्मा है। उसे बाह्य शरीर से पथक् दिखलाने के लिए 'प्रत्यगात्मा' अर्थात् 'अन्तरात्मा' भी कहा गया है। ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण जो स्वरूप ब्रह्मा का ऊपर बताया गया है, वही स्वरूप आत्मा का भी है। वास्तव में वेदान्तसार का रचयिता आरम्भिक मंगलाचरण में जो 'अखण्ड', 'सच्चिदानन्द', 'अवाङ्मनसगोचर' तथा 'अखिलाधार' विशेषण प्रस्तुत करता है वे

आत्मा के ही हैं। इसके अनुसार आत्मा 'अखण्ड' अर्थात् सब प्रकार के भेदों से रहित है, 'सत', 'चित' तथा 'आनन्द' स्वरूप है, वाणी तथा मन का विषय नहीं है तथा सम्पूर्ण सष्टि का आधार है। अद्वैत–वेदान्त की दष्टि से आत्मा के विषय में जो ध्यान देने की बातें हैं वे निम्नलिखित हैं :–

(१) आत्मा ब्रह्म से अभिन्न तथा एक है। अनेक रूप में जो आत्मा प्रतीत होती है वह अज्ञानरूप उपाधि के कारण है। जैसे घट–आकाश घट–रूप उपाधि के कारण मूल आकाश से भिन्न तथा अनेक प्रतीत होते हैं, वैसे ही एक आत्मा अज्ञान–रूप उपाधि के कारण अनेक प्रतीत होती है।

(१) आत्मा सर्वव्यापक, निरवयव तथा कूटस्थ है। कूटस्थ से तात्पर्य है कि किसी भी प्रकार का विकार या परिवर्तन उसमें सम्भव नहीं है।

(२) आत्मा 'सत्', 'चित्' तथा 'आनन्द' स्वरूप है। 'सत्' से तात्पर्य है कि वह त्रिकाल–अबाधित है, कभी उसका नाश नहीं होता। 'चित्' अर्थात् 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' उसका स्वभाव हैं, गुण नहीं।

(३) आत्मा 'अकर्ता' है। कूटस्थ होने के कारण उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। अतः उसमें किसी प्रकार की क्रिया का कर्ता हो सकता है, क्योंकि क्रिया–युक्त होते ही उसकी कूटस्थता समाप्त हो जायेगी। अज्ञान–युक्त होकर वह 'जीव; की स्थिति में आता है, और तभी वह 'कर्ता' बनता है।

(४) आत्मा अपने शुद्ध रूप में नित्य–मुक्त है, अतः सभी प्रकार के जन्म–मरण के बन्धनों से परे है। ये सभी प्रकार के बन्धन जीवन में होते हैं जो आत्मा का अज्ञान–युक्त रूप है।

(५) आत्मा स्वयं प्रकाशमान है। उसे प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य वस्तु की आवश्यकता नहीं।

(६) आत्मा की सिद्धि के लिए कोई प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, वह स्वयं–सिद्ध है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मा का निराकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि जो उसका निराकरण करेगा वही आत्मा होगा। सभी 'आत्मा' के अस्तित्व का अनुभव करते हैं, कोई यह अनुभव नहीं करता कि 'मैं नहीं हूं'।

विभिन्न दर्शनों के आत्मा के विषय में मान्यताएं

चार्वाक-मत – अन्य दर्शनों के मतों में चार्वाक दर्शन का मत वेदान्त के मत से सबसे दूर पड़ता है। चार्वाक के अनुसार यह शरीर ही आत्मा है तथा उसमें दिखलायी पड़ने वाला चैतन्य कोई शरीर से पथक् तत्व नहीं है, केवल उसका गुण है। जैसे कत्था–चूना आदि के मिलने से पान में एक नया गुण लालिमा उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार विभिन्न जड़–भूतों के विशिष्ट मिश्रण से 'चैतन्य' रूपी गुण उत्पन्न हो जाता है। शरीर के नाश के साथ–साथ यह भी नष्ट हो जाता है। न यह मत वेदान्त के समान आत्मा को शरीर से भिन्न तत्व मानता है, न उसे स्थायी मानता है।

सांख्य-मत – अन्य दर्शनों में जो मत वेदान्त के सर्वाधिक निकट है, वह सांख्य का है। सांख्य का मत कई दष्टियों से वेदान्त–मत से मिलता है। सांख्य के अनुसार भी आत्मा या पुरुष शरीर से भिन्न एक चेतन–तत्व है जो अपने शुद्ध रूप में सर्वव्यापक, कूटस्थ तथा अकर्ता है। वेदान्त के समान ही सांख्य भी आत्मा को नित्य–मुक्त मानता है, उसका बन्धन केवल उसके भ्रम के कारण है, जब वह बुद्धि आदि अचेतन तत्वों के साथ अपने को अभिन्न समझने लगता है। इसी प्रकार सांख्य वेदान्त के समान ही आत्मा का अस्तित्व स्वयं–सिद्ध मानता है। किन्तु सांख्य तथा वेदान्त के मत में निम्नलिखित प्रमुख अन्तर भी हैं :–

(१) वेदान्त के अनुसार आत्मा या ब्रह्म अकेला ही सत्–तत्व है, शेष सब प्रतीति–मात्र हैं, किन्तु सांख्य जड़ प्रकति को भी सत्–तत्व मानता है।

(२) वेदान्त के अनुसार आत्मा एक है, जबकि सांख्य आत्माओं को अनेक मानता है।

(१) वेदान्त के अनुसार 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' आत्मा का स्वभाव है किन्तु सांख्य चैतन्य को तो आत्मा का स्वभाव मानता है, आनन्द को नहीं। सांख्य के अनुसार 'आनन्द' एक प्रकार का ज्ञान है और अन्य ज्ञानों की भाँति बुद्धि के विकार से उत्पन्न है।

न्याय-वैशेषिक – न्याय–वैशेषिक के अनुसार नौ प्रकार के द्रव्यों (पाँच भूत, दिक् काल, मनस् तथा आत्मा) में आत्मा एक द्रव्य है। वेदान्त–मत के समान यह सर्वव्यापी तथा नित्य है। किन्तु वेदान्त–मत से इस मत में अन्तर अधिक है। प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं :–

(१) वेदान्त में आत्मा अकेला ही तत्त्व है, जबकि न्याय–वैशेषिक में पचभूत, दिश्, काल, मनस् अनेक तत्त्व माने गये हैं।

(२) वेदान्त में आत्मा 'एक' है किन्तु न्याय–वैशेषिक में प्रथमतः आत्मा को दो प्रकार का बताया गया है– जीवात्मा तथा परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर एक है तथा जीवात्मा अनेक।

(३) वेदान्त में 'चैतन्य' तथा 'आनन्द' आत्मा के स्वभाव है किन्तु न्याय–वैशेषिक इन दोनों को ज्ञान–स्वरूप मानता है और ज्ञान को आत्मा का गुण मानता है। अपने शुद्ध रूप में आत्मा, न्याय–वैशेषिक मत में, चैतन्य तथा आनन्द दोनों से रहित है। ये आत्मा के आगन्तुक गुण हैं।

(४) वेदान्त आत्मा को कूटस्थ–नित्य मानता है–उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। न्याय–वैशेषिक आत्मा को नित्य तो मानता है किन्तु इसे इस मत में कूटस्थ–नित्य नहीं कह सकते। ईश्वर तो नित्य इच्छा, ज्ञान आदि से युक्त है, जीवात्मा भी शरीर, इन्द्रिय तथा मनस् से युक्त होकर इच्छा, ज्ञान, सुख–दुःख आदि से युक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में इसे पूर्णतः निर्विकार या कूटस्थ कहना सम्भव नहीं है।

(५) वेदान्त की आत्मा न कर्त्ता है न भोक्ता, किन्तु न्याय–वैशेषिक की आत्मा ऐसी नहीं है। ईश्वर तो साक्षात् सष्टि का कर्त्ता है ही, जीवात्मा भी शरीरादि से संयुक्त होकर कर्तत्व–भोक्तत्व से युक्त हो जाती है। वेदान्त–मत में जहाँ आत्मा का कर्तत्य–भोक्तत्व केवल प्रतीयमान है, भ्रमात्मक है, वहाँ न्याय–वैशेषिक मत में यह वास्तविक है।

(६) वेदान्त–मत में आत्मा नित्य–मुक्त है, बन्धन केवल भ्रान्ति है, किन्तु न्याय–वैशेषिक में आत्मा शरीर आदि से संयुक्त होकर वास्तव में बन्धन–युक्त हो जाती है और उनसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है।

(७) वेदान्त–मत में आत्मा को सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, वह तो सभी के अनुभव का विषय है, किन्तु न्याय आत्मा को अनुमान द्वारा सिद्ध करता है।

मीमांसा-मत –मीमांसा–दर्शन में दो सम्प्रदाय हैं–भाट्ट तथा प्राभाकर। प्रथम कुमारिल भट्ट द्वारा प्रवर्तित है तथा दूसरा प्रभाकर द्वारा। प्राभाकर मत में आत्मा को न्याय–वैशेषिक की तरह नित्य–अविनाशी तथा सर्वव्यापक द्रव्य माना गया है तथा चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक गुण माना गया है। न्याय–वैशेषिक की भाँति ही यहाँ आत्मा शरीरादि से संयुक्त होकर बन्धन में पड़ती है और उनसे मुक्त होकर मुक्त होती है। अन्य बातों में भी प्राभाकर–मत न्याय–वैषेशिक के समान है। अतः इस मत की वेदान्त से तुलना में भी वही कहा जा सकता है जो न्यायवैशेषिक के साथ वेदान्त की तुलना में कहा गया है। किन्तु भाट्ट–मत में आत्मा के स्वरूप में कुछ अन्तर है। इस मत के अनुसार आत्मा को अपने स्वरूप में पूर्णतः चैतन्य नहीं कहा जा सकता, चैतन्य इसमें एक गुप्त शक्ति के रूप में विद्यमान रहता है। अतः आत्मा को बोधात्मक तथा जड़ात्मक दोनों स्वीकार किया गया है। इसीलिए वेदान्तसार के रचयिता ने उसे 'अज्ञानोपहित–चैतन्य' कहा है। भाट्ट–मत की स्थिति इस दष्टि से वेदान्त तथा प्राभाकार–मत के मध्य में पड़ती है।

बोद्ध-मत – बौद्धों के चार सम्प्रदाय प्रसिद्ध है : वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमे वैभाषिक सभी वस्तुओं के तीनों कालों के अस्तित्व को मानते हैं, अतः 'सर्वास्तवादी' कहे जाते हैं, सौत्रान्तिक बाह्य–वस्तुओं को प्रत्यक्ष–गम्य न मानकर अनुमान–गम्य मानते हैं, अतः 'बाह्यनुमेयवादी' कहे जाते हैं, योगाचार बाह्य वस्तुओं की सत्ता को विज्ञान या ज्ञान से अभिन्न मानते हैं, अतः 'विज्ञानवादी' कहे जाते हैं और माध्यमिक अद्वैत–वेदान्त के समान सभी धर्मो से रहित केवल एक तत्त्व स्वीकार करते हैं जिसे वे 'शून्य' कहते हैं, जिस कारण इनका मत 'शून्यवाद' कहा जाता है। आत्मा के सम्बन्ध में बौद्धों की सामान्य स्थिति यह है कि वे शरीर–स्थित चैतन्य को आत्मा मानते हैं। किन्तु उनका यह चैतन्य सभी वस्तुओं की भाँति क्षणिक है। वह प्रत्येक क्षण नष्ट हो जाता है और उसके स्थान पर एक नया चैतन्य–क्षण आ जाता है। इसी प्रकार चैतन्य–क्षणें की परम्परा चलती रहती है जिसे चेतना–सन्तान कहा गया है। इसी को बौध –मत में आत्मा कहा जा सकता है। किन्तु वेदान्त की आत्मा में तथा इस चेतना–सन्तान में बहुत अन्तर है। जहाँ वेदान्त की आत्मा नित्य तथा सर्वव्यापक पदार्थ है, वहाँ यह चेतना–सन्तान न नित्य है न सर्वव्यापक है। वेदान्त की आत्मा कूटस्थ है किन्तु बौद्धों की चेतना–सन्तान हर क्षण नष्ट होने के कारण परिवर्तनशील है। बौद्धों का माध्यमिक सम्प्रदाय सैद्धान्तिक दष्टि से अद्वैत–वेदान्त के बहुत निकट है। जिस प्रकार अद्वैत–वेदान्त सब धर्मो से शून्य केवल एक तत्त्व ब्रह्म या आत्मा को मानता है, उसी प्रकार बौद्ध माध्यमिक सम्प्रदाय सब धर्मो से रहित 'शून्य' को मानता है। वेदान्त की आत्मा तथा माध्यमिक के 'शून्य' का प्रमुख अन्तर यह है कि वेदान्त 'सच्चिदानन्द' आदि कह कर आत्मा को बहुत कुछ धर्मो से युक्त बना देता है क्योंकि सत्, चित् तथा आनन्द उसके स्थायी धर्म माने जा सकते हैं, किन्तु माध्यमिक बौद्ध अपने 'शून्य' को सभी प्रकार के धर्मो से परे स्वीकार करते हैं।

जैन-मत – जैन–मत में भी आत्मा या जीव एक चेतन द्रव्य है। वह स्वभावतः अनन्त है तथा अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य तथा अनन्त आनन्द से युक्त है। किन्तु कर्मो से उत्पन्न वासनाओं के कारण वह पुद्गल अर्थात् द्रव्य को आकष्ट कर शरीर धारण करता है और जन्म–मरण के बन्धन से युक्त हो जाता है। बन्धन की स्थिति में वह कर्त्ता तथा भोक्ता है। इस स्थिति में उसका विस्तार भी शरीर के अनुरूप होता है, जितना बड़ा शरीर उतना ही बड़ा जीव। वह यद्यपि कभी नष्ट न होने के कारण नित्य है किन्तु विस्तार बदलने के कारण उसको वेदान्त की भाँति कूटस्थ नित्य नहीं कहा जा सकता। वह दीपक की भाँति स्वयं प्रकाशमान है और अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। वेदान्त में जहाँ जीव को अकेला तत्त्व माना गया है, वहाँ जैन–मत में काल, धर्म, आकाश तथा पुद्गल रूप में अन्य अनेक तत्त्वों को भी माना गया है। वेदान्त में आत्मा एक ही है किन्तु जैन–मत में जीव अनन्त हैं।

३. अज्ञान निरूपण

अज्ञान का स्वरूप – ब्रह्म अपने आप में एक निर्गुण तथा निष्क्रिय सत्ता है। इसमें किसी प्रकार का कर्तत्व अथवा विकास सम्भव नहीं। अतः ब्रह्म स्वरूपतः न तो कर्त्ता के रूप में जगत् का निर्माण का सकता है, न स्वयं जगत् के रूप में परिवर्तित हो सकता है। दूसरे शब्दों में ब्रह्म न तो जगत् का निमित्त कारण हो सकता है, न उपादान कारण। किन्तु जगत् की सष्टि होती है, यह हमें प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता ह, इसे हम एकदम से नकार नहीं सकते। इसकी व्याख्या के लिए अद्वैत वेदान्त ने अज्ञान या माया का आश्रय लिया है। यह ब्रह्म की एक शक्ति है जो ब्रह्म के समान 'सत्' न होती हुई जो कुछ है जो ब्रह्म की प्रतीति इस जगत् के रूप में कराती है। माया–युक्त ब्रह्म ईश्वर कहलाता है जो जगत् की सष्टि करता है। इस माया या अज्ञान का स्वरूप वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया है :–

अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं त्रिगुणात्म्कं ज्ञानविरोधी भावरूपं यत्किचिदिति वदन्ति।

यहाँ अज्ञान के पाँच विशेषण बतलाये गये हैं – 'सदसद्भ्यामनिर्वचनीय', 'त्रिगुणात्मक', 'ज्ञानविरोधी', 'भावरूप' तथा 'यत्किचित्'। इनसे अज्ञान या माया के स्वरूप को इस प्रकार समझा जा सकता है :–

(१) सदसद्भ्यामनिर्वचनीय – यह 'सद्' तथा 'असद्' दोनों शब्दों से अनिर्वचनीय है, अर्थात न इसे 'सद्' कहा जा सकता है, न 'असद्'। जो सद् होता है वह त्रिकाल–अबाधित होता है, तीनों कालों में कभी भी उसका नाश नहीं होता। किन्तु ज्ञान के उदय होने पर अज्ञान का नाश हो जाता है, अतः इसे 'सत्' कहना सम्भव नहीं है। जो असत् होता है उसकी कभी प्रतीति नहीं होती जैसे 'वन्ध्यापुत्र' या 'शश–श्रंग'। किन्तु अज्ञान की इस जगत् के रूप में प्रतीति होती है, अतः इसे 'असत्' भी नहीं कहा जा सकता।

(२) त्रिगुणात्मक – अज्ञान तीन गुण – सत्त्व, रजस् तथा तमस् के स्वभाव वाला है। इन्हीं त्रिगुणों के कारण इससे उत्पन्न सष्टि सुख, दुःख, मोह स्वभाव वाली है। ये गुण अज्ञान के मात्र गुण नहीं हैं, अपितु उसके अंग है, अज्ञान इन्हीं के स्वभाव वाला है।

(३) ज्ञानविरोधी–अज्ञान ज्ञान–विरोधी अर्थात् ज्ञान द्वारा नष्ट हाने वाला (ज्ञान है विरोधी जिसका) है। ज्ञान प्राप्ति पर यह समाप्त हो जाता है।

(४) भावरूप–अज्ञान को ज्ञान का अभाव नहीं केहा जा सकता,ख अपितु यह एक भावरूप सत्ता है।

(५) यत्किंचित–'सत' तथा 'असत' से भिन्न अनिर्वचनीय होने के कारण इसे यत्किंचित कहा गया है। इसका लक्षण शब्दों द्वारा बतलाना सम्भव नहीं है, अतः यही कहा जा सकता है कि यह 'कुछ' है।

तीन प्रकार की सत्ताएं–शंकराचार्य ने तीन प्रकार की सत्ताएं स्वीकार की हैं–(१) पारमार्थिक–जिसका कभी बाध नहीं होता, अतः जो 'सत्' है। यह केवल ब्रह्म है। (२) व्यावहारिक–दश्यमान संपूर्ण जगत व्यावहारिक–सत्ता है। (३) प्रातिभासिक–जिसकी केवल भ्रम के कारण प्रतीति होती है और भ्रम–निवारण पर जिसकी प्रतीति समाप्त हो जाती है, जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति या सीपी में चाँदी की प्रतीति। इन तीनों प्रकार की सत्ताओं में अन्तिम के बारे में तो हम सभी जानते हैं कि यह भ्रमात्मक है, दूसरी अर्थात् व्यावहारिक सत्ता के विषय में भी वेदान्त का कथन है कि परम ज्ञान प्राप्त होने पर जगत् की प्रतीति उसी प्रकार समाप्त हो जाती है जैसे रस्सी में सर्प की प्रतीति। अतः यह भी प्रातिभासिक सत्ता के समान अज्ञान से उत्पन्न है अर्थात् भ्रमात्मक है। किन्तु भ्रमात्मक होते हुए भी अद्वेत–वेदान्त अन्तिम दोनों सत्ताओं को 'असत्' नहीं मानता क्योंकि जो असत् है उसकी तो शशश्रंग के समान कभी प्रतीति ही नहीं हो सकती। जगत् तथा शुक्ति में रजत् की प्रतीति हमें होती है, अतः इनकी सत्ता है अवश्य। किन्तु यह सत्ता ब्रह्म के समान पारमार्थिक रूप से सत् नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म की सत्ता तो परम ज्ञान प्राप्त

करने के बाद भी बनी रहती है, जबकि व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक सत्ताएं ज्ञान होते ही समाप्त हो जाती हैं। 'सत' तथा 'असत' से भिन्न वस्तु हमारी समझ से परे है, इसीलिए उसे 'अनिर्वचनीय' तथा 'यत्किंचित्' कहना अधिक उपयुक्त समझा गया है।

माया या अज्ञान ब्रह्म की शक्ति होने के कारण ब्रह्म से भिन्न नहीं है, किन्तु उसे ब्रह्म का स्वभाव भी नहीं माना जा सकता क्योंकि ब्रह्म सत्–चित्–आनन्द–स्वरूप वाला है और माया अनत, जड़ तथा दुःखमय है। वास्तव में ब्रह्म के साथ उसका सम्बन्ध भी अनिर्वचनीय है। यह अनादि है किन्तु ज्ञान प्राप्ति पर नष्ट हो जाती है।

अज्ञान की दो शक्तियां – माया या अज्ञान की दो प्रकार की शक्तियां स्वीकार की गयी हैं–(१) आवरण शक्ति, तथा (२) विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति के द्वारा यह वस्तु के स्वरूप को छिपा देती है। वेदान्तसार के रचयिता के अनुसार जिस प्रकार एक छोटा–सा बादल अनेक योजनों में फैले हुए सूर्य–मण्डल को देखने वाले की दष्टि को ढक कर मानो ढक देता है उसी प्रकार अज्ञान भी स्वयं सीमित होते हुए भी असीमित तथा संसरण न करने वाली आत्मा को देखने वाले की बुद्धि को ढक कर मानों ढक देता है। तात्पर्य यह है कि मेघ छोटा होता है, सूर्य अत्यन्त विस्तत, अतः मेघ सूर्य को ढक नहीं सकता। किन्तु वह द्रष्टा के दष्टि–पथ को ढक देता है जिससे द्रष्टा समझता है कि सूर्य ही ढक गया। इसी प्रकार अज्ञान सीमित है और आत्मा असीमित। अज्ञान आत्मा को ढकने में तो समर्थ नहीं है किन्तु वह द्रष्टा की बुद्धि को ढक देता है जिससे आत्मा का स्वरूप ढका हुआ प्रतीत होने लगता है। आवरण–शक्ति द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप जब ढक जाता है तो उसमें नाना रूप वाले जगत् की प्रतीति की सम्भावना हो जाती है। इस जगत् की प्रतीति को उत्पन्न कराने का काम है विक्षेप–शक्ति का, जिसके कारण एक तथा अपरिवर्तित आत्मा में नाना रूप वाली सष्टि दिखलायी पड़ने लगती है। दोनों शक्तियों को रस्सी में सर्प की प्रतीति के उदाहरण द्वारा भी समझाया जा सकता है। जैसे रज्जु–संबंधी अज्ञान आवरण–शक्ति से रज्जु के स्वरूप को ढक देता है और विक्षेप–शक्ति से उसमें सर्प की प्रतीति कराता है, उसी प्रकार मायारूप अज्ञान आवरण–शक्ति द्वारा आत्मा के स्वरूप को छिपाकर विक्षेप–शक्ति द्वारा आत्मा के स्वरूप को छिपाकर विक्षेप–शक्ति द्वारा उसमें सष्टि की प्रतीति करता है।

अज्ञान, माया तथा अविद्या का अन्तर–शंकराचार्य ने 'अज्ञान', 'माया' तथा 'अविद्या' शब्दों को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है किन्तु परवर्ती अद्वैत–दार्शनिकों ने इनके अर्थों में कुछ अन्तर स्थापित कर दिया। 'अज्ञान' को तो उन्होंने प्रायः सामान्य अर्थ में ही रखा किन्तु 'माया' को 'समष्टि–अज्ञान' के अर्थ में तथा 'अविद्या' को व्यटि–अज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त किया। विद्यारण्य स्वामी ने मूल अज्ञान के लिए 'प्रकति' शब्द का प्रयोग करके उसके दो रूप बताये–माया तथा अविद्या। माया उनके अनुसार ईश्वर की उपाधि है तथा अविद्या जीव की। माया शुद्ध सत्वप्रधान है तथा अविद्या मलिन सत्वप्रधान। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है तथा अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव है।

वेदान्त की माया तथा सांख्य की प्रकति की तुलना–सांख्य दर्शन में स्वीकार की गयी 'प्रकति' तथा वेदान्त की 'माया', दोनों का मूल उपनिषद् है। उपनिषदों का ही आश्रय लेकर सांख्य–दर्शन ने इस जड़ सष्टि के कारण के रूप में जड़ प्रकति की कल्पना की। यह प्रकति अपने मूल रूप में अव्यक्त है तथा तीन गुणों–सत्व, रजस्, तमस्–के स्वरूप वाली है। इसके तीनों गुणों के मिश्रण से सष्टि का निर्माण होता है जो व्यक्त है। वेदान्त की माया तथा सांख्य की प्रकति में निम्नलिखित समानताएं देखी जा सकती हैं :–

(१) वेदांत की माया भी जड़ सष्टि का कारण है और सांख्य की प्रकति भी।

(२) वेदांत की माया भी त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्व, रजस् तथा तमस् इन तीनों गुणों के स्वरूप वाली है तथा सांख्य की प्रकति भी।

(३) वेदांत की माया भी अपने मूल रूप में अव्यक्त होती है तथा सांख्य की प्रकति भी मूलतः अव्यक्त होती है।

दोनों में विषमताएँ निम्न लिखित हैं :–

(१) वेदांत की माया ब्रह्म से पथक् कोई तत्व नहीं है, उसी की शक्ति है जबकि सांख्य की प्रकति एक पथक् तत्व है।

(२) वेदांत की माया को सत् नहीं कहा जा सकता, वह सत् तथा असत् दोनों से भिन्न अनिर्वचनीय स्वरूप वाली है, जबकि सांख्य की प्रकति सत् है, एक पारमार्थिक सत्ता है।

(३) वेदांत की माया पूर्णतः जड़ है और बिना ब्रह्म की प्रेरणा के कार्य नहीं कर सकती। इसीलिए वेदांत में ब्रह्म को चैतन्य की दष्टि से सष्टि का निमित्त कारण तथा उपाधि अर्थात् अज्ञान या माया की दष्टि से उपादान कारण बताया गया

है। किंतु सांख्य में प्रकति स्वतः बिना किसी प्रेरणा के कार्य करती है। उसका सष्टि रचने का कार्य पुरुष के भोग तथा मोक्ष के लिए अवश्य है, किंतु पुरुष उसको प्रेरित नहीं करता।

४. ईश्वर

ईश्वर की आवश्यकता—यह समस्या संसार के प्रत्येक विचारक के सम्मुख रही है कि यहा जगत् कहाँ से आया। उसके पास दो ही विकल्प होते हैं, या तो वह इस जगत् को अनादि मानकर यह स्वीकार कर ले कि इसका रचयिता कोई नहीं है, या यह माने कि संसार के अन्य कार्यों की भांति जगत् भी एक कार्य है और इसका कर्ता अवश्य होगा। यदि जगत् को अनादि भी मान लिया जाये तो भी समस्या आती है कि जगत् में जो इतना सुनियोजित परिवर्तन हो रहा है वह स्वतः ही हो रहा है, अथवा इसके पीछे किसी नियोजक का हाथ है। इस प्रकार जगत् के रचयिता तथा नियामक के रूप में जिस शक्ति या व्यक्ति की कल्पना की गयी उसे ईश्वर नाम दिया गया। साथ ही उसे एक कार्य और सौंप दिया गया—जगत् का संहार करना। इस प्रकार जगत् के उत्पादक, नियामक, तथा संहर्ता के रूप में ईश्वर की कल्पना आयी। किंतु जिन विचारकों ने ईश्वर की कल्पना की उन्होंने जो इसके स्वरूप का निर्धारण किया उसमें कुछ अंतर पाया जाता है।

भारतीय दर्शनों में नास्तिक दर्शन—चार्वाक, बौद्ध तथा जैन तो ईश्वर को स्वीकार नहीं करते, आस्तिक दर्शनों में भी मीमांसा ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। सांख्य में ईश्वर के विषय में दोनों प्रकार के मत हैं, कुछ लोग ईश्वर को स्वीकार करते हैं, कुछ नहीं करते। सांख्य का सहयोगी योगदर्शन ईश्वर को स्वीकार करता है। न्याय—वैशेषिक में ईश्वर की कल्पना निमित्त कारण के रूप में है, किंतु वेदांत इसे उपादान तथा निमित्त दोनों प्रकार के कारणों के रूप में मानता है।

अद्वैत—वेदांत में ईश्वर का स्वरूप—अद्वैत—वेदांत केवल एक पारमार्थिक तत्व 'ब्रह्म' को स्वीकार करता है जो सब प्रकार के गुणों से रहित है, साथ ही निष्क्रिय भी है। ऐसी स्थिति में उपने मूल रूप में रहते हुए वह जगत् का कर्ता नहीं हो सकता। उसको जगत् का रचयिता बनाने के लिए अद्वैत—वेदांत में 'माया' की कल्पना है, जिससे संयुक्त होकर ब्रह्म सगुण प्रतीत होने लगता है। शंकराचार्य के अनुसार—

द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपविकारभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविवर्जितम्। एवमेकमपि ब्रह्मापेक्षितोपाधिसंबंधं निरस्तोपाधिसंबंधं चोपास्यत्वेन ज्ञेयत्वेन च वेदांतेषूपदिश्यते।

'ब्रह्म दो रूपों में जाना जाता है—(एक) नामरूप रूपी विकारों के भेद रूपी उपाधि से विशिष्ट तथा (दूसरा) इसके विपरीत सब उपाधियों से रहित। इस प्रकार एक ही ब्रह्म उपाधि—संबंध—सहित तथा उपाधि—संबंध—रहित (क्रमशः) उपास्य रूप में तथा ज्ञेय रूप में वेदांत में बतलाया जाता है।'

तथा—निर्गुणमपि सद् ब्रह्म नामरूपगतैर्गुणैः सगुणमुपासनार्थं तत्र तत्रेपदिश्यते।

'निर्गुण होते हुए भी ब्रह्म उपासना के लिए जगह—जगह नाम रूप गत गुणों से सगुण बतलाया जाता है'

इस प्रकार वही ब्रह्म नाम—रूप उपाधि धारण करके सगुण बन जाता है। यही सगुण ब्रह्म उपासना का भी विषय है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की उपासना सम्भव नहीं है। इसी सगुण ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है जो इस जगत् का कर्ता, नियंता तथा संहर्ता है।

वेदांतसार में सदानंद विशुद्ध सत्व—प्रधान समष्टि—अज्ञान से उपहित चैतन्य को ईश्वर बतलाते हैं—

एतद् (विशुद्धसत्वप्रधानसमष्ट्यज्ञान) उपहितं चैतन्यं सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वसर्वनियंतत्वादिगुणकमव्यक्तमंतर्यामी जगत्कारणमीश्वर इति च व्यपदिश्यते।

'यह (विशुद्धसत्वप्रधान समष्टि—अज्ञान) से उपहित चैतन्य सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियंतत्व आदि गुण वाला, अव्यक्त, अंतर्यामी, जगत् का कारण तथा ईश्वर कहलाता है।'

इस कथन से स्पष्ट है कि ईश्वर जगत् का कारण है, सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर अर्थात् सबका स्वामी है, सम्पूर्ण जगत् का नियंता है, अंतर्यामी है तथा अव्यक्त है। समष्टि—अज्ञान अर्थात् सभी अज्ञानों को प्रकाशित करने के कारण वह 'सर्वज्ञ' है, सभी जीवों को कर्मानुसार फल देने के कारण वह 'सर्वेश्वर' है, सभी जीवों को कर्म में प्रेरित करने के कारण सर्वनियंता है, सभी जीवों के हृदय में स्थित होकर नियंत्रण करने के कारण अंतर्यामी है तथा प्रमाणों द्वारा ग्रहण न किये जा सकने के कारण अव्यक्त है।

ईश्वर विशुद्ध—सत्व—गुण—प्रधान अज्ञान से उपहित होने के कारण अज्ञान को अपने वश में रखता है जबकि जीव

मलिन–सत्व–गुण–प्रधान होने के कारण स्वयं अज्ञान के वश में हो जाता है। जीव की भाँति ईश्वर भोक्ता न होकर केवल साक्षी है। वह जीव की भँति दुःख से युक्त भी नहीं है।

अद्वैत–वेदान्त के ईश्वर में एक ध्यान देने की बात यह है कि वह इस जगत् का निमित्त कारण भी है तथा उपादान कारण भी है।

शक्तिद्वयवदज्ञानोपहितं चैतन्यं स्वप्रधानतया निमित्तं स्वोपाधिप्रधानतयोपादानं च भवति। यथा लूता तन्तुकार्यं प्रति स्वप्रधानतया निमित्त स्वशरीरप्रधानतयोपादानं च भवति।

('आवरण' तथा 'विक्षेप' इन) दोनों शक्तियों से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य अपनी प्रधानता से निमित्त (कारण) और अपनी उपाधि (अर्थात् अज्ञान) की प्रधानता से उपादान (कारण) होता है। जैसे मकड़ी (जाले के) तन्तू रूपी कार्य के प्रति अपनी (अर्थात् चैतन्य की) प्रधानता से निमित्त (कारण) और अपनी शरीर की प्रधानता से उपादान (कारण होती) है।

इस कथन से स्पष्ट है कि अज्ञान ईश्वर का शरीर–स्वरूप है और ब्रह्म उसकी चेतना–स्वरूप। यह अज्ञान परिणत होकर जगत् के रूप में आ जाता है, अतः ईश्वर को जगत् का उपादान कारण माना गया है। किन्तु अज्ञान को जगत् के रूप में परिणत होने की प्रेरणा चैतन्य से प्राप्त होती है, अतः चैतन्य की दष्टि से ईश्वर जगत् का निमित्त कारण भी है।

अद्वैत–वेदान्त के ईश्वर के विषय में एक ध्यान देने की बात यह भी है कि अद्वैत–वेदान्त में अज्ञान या माया के पारमार्थिक सत्ता न होने के कारण ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है। किन्तु अद्वैत–वेदान्त व्यावहारिक दष्टि से माया तथा जगत् को सत्य मानता है, अतः ईश्वर की भी व्यावहारिक सत्ता है। जब तक जीव अज्ञान से युक्त है तब तक ईश्वरा उसके लिए है, जब वह ज्ञान प्राप्त कर मुक्त हो जाता है, उसके लिए ईश्वर की सत्ता समाप्त हो जाती है। पारमार्थिक दष्टि से ईश्वर की सत्ता के तुच्छ होने पर भी व्यावहारिक दष्टि से अद्वैत–वेदान्त में ईश्वर को पर्याप्त महत्व दिया गया है क्योंकि निर्गुण ब्रह्म तक पहुंचने के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना को तहत्वपूर्ण माना गया है।

५ जीव निरूपण

जीव का स्वरूप–जहाँ विशुद्ध–सत्व–प्रधान समष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य या आत्मा को 'ईश्वर' कहा गया है, वहाँ मलिनसत्व–प्रधान व्यष्टि–अज्ञान से उपहित आत्मा 'जीव' कही गयी है। सष्टि–प्रक्रिया में इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर की उत्पत्ति होने पर इनसे उपहित आत्मा जीव कहलाती है। शंकराचार्य के अनुसार–

'अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरेन्द्रियपंजराध्यक्षः कर्मफलसम्बन्धी।'

अर्थात् शरीर तथा इन्द्रिय रूपी पिंजड़े को स्वामी तथा कर्म–फल से सम्बन्धित आत्मा 'जीव' नाम वाली है।'

इनसे स्पष्ट है कि शरीर तथा इन्द्रियों से युक्त होकर कर्मों के फलों का भोग करने वाली आत्मा को ही जीव कहते हैं। इन्द्रियों के साथ यहां मन तथा बुद्धि को भी लिया जा सकता है क्योंकि वे भी अन्तःकरण अर्थात् आन्तरिक इन्द्रियां हैं। परमार्थतः जीव आत्मा से भिन्न नहीं है किन्तु अविद्या–जनित उपाधि से युक्त होने के कारण भिन्न प्रतीत होने लगता है। आत्मा अपने पारमार्थिक रूप में अतीन्द्रिय चैतन्य है किन्तु जीव उसका इन्द्रिय–ग्राह्य व्यावहारिक रूप है। जीव की यह उपाधि अविद्या–जन्य होने के कारण पारमार्थिक रूप से सत् नहीं है, अतः जीव भी प्रतीयमान रूप में पारमार्थिक दष्टि से सत् नहीं है। जीव प्रमाता, कर्ता, भोक्ता तथा संसरणकर्ता है अर्थात् जगत्! के पदार्थों का ज्ञान उसे होता है, वह कर्म करता है और उनके फलों को भोगता है और इसीलिए संसरण करता है अर्थात् एक जन्म से दूसरे जन्म को प्राप्त करता है। किन्तु उसका यह जन्म, मरण आदि उसके अपने वास्तविक स्वरूप का नहीं, उसके शरीर का ही है। वह सर्वव्यापक होते हुए भी उपाधि के कारण सीमित प्रतीत होता है।

सष्टि विकास में जीव की तीन अवस्थाएं प्राप्त होती हैं–प्राज्ञ, तैजस तथा विश्व। जिस समय अज्ञान अव्यक्त अवस्था में रहता है उस समय उसके व्यष्टि–रूप से उपहित चैतन्य का नाम 'प्राज्ञ' है। जीव की इस अवस्था को 'सुषुप्ति' भी कहा जाता है। इस अवस्था में वह अज्ञान की सूक्ष्म वत्तियों द्वारा आनन्द का अनुभव करता रहता है। अज्ञान जब व्यक्तावस्था में आता है तो पहले उससे सूक्ष्म या लिंग–शरीरों की उत्पत्ति होती है। सूक्ष्म शरीर सत्रह अवयवों से निर्मित होता है जो इस प्रकार हैं–पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मन, पाँच वायु। इस व्यष्टि–रूप सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा जाता है। जीव की इस अवस्था को 'स्वप्न' भी कहा जाता है। जीव की इस अवस्था को 'स्वप्न' भी कहा जाता है। इस अवस्था में तैजस अपने मन की वत्तियों द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करता रहता है। सष्टि के अगले क्रम में स्थूल शरीरों की उत्पत्ति होती है और स्थूल शरीर की व्यष्टि से उपहित चैतन्य 'विश्व' कहलाता है। जीव की यह स्थिति 'जाग्रत्' कही जाती है। इस अवस्था में वह

स्थूल विषयों का अनुभव करता है।

यहां एक बात विचारणीय है। सदानन्द ने वेदान्तसार में बुद्धि को ज्ञानेन्द्रियों सहित विज्ञानमयकोश बतलाया है' और इस विज्ञानमयकोश को कर्तव्य, भेक्तत्व, सुखित्व, दुःखित्व आदि का अभिमानी होने के कारण इस लोक तथा परलोक में गमन करने वाला व्यावहारिक जीव कहा है।

(७) जीव और ईश्वर का सम्बन्ध

अद्वैत–वेदान्त में न जीव की पारमार्थिक सत्ता है, न ईश्वर की। पारमार्थिक दष्टि से दोनों ब्रह्म हैं, अतः दोनों अभिन्न हैं। उनका भेद केवल प्रतीयमान है, केवल व्यावहारिक दष्टि से है।

ईश्वर और जीव का प्रमुख अन्तर यह है कि ईश्वर समष्टि–अज्ञान रूप उपाधि से युक्त होता है और जीव व्यष्टि–अज्ञान रूप उपाधि से युक्त। साथ ही ईश्वर की उपाधि शुद्ध–सत्व–प्रधान होती है और जीव की मलिन–सत्व–प्रधान। इसी कारण ईश्वर अज्ञान को अपने वश में रखता है, जब कि जीव अज्ञान के वश में हो जाता है। इससे दोनों के गुणों में भी अन्तर आ जाता है। ईश्वर दुःख आदि के अनुभव से रहित, स्वामित्व से युक्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा पूर्ण है। वह बंधन में नहीं बन्धता अतः पाप–पुण्य के परे है। वह कर्म–फल का भोक्ता नहीं है, केवल साक्षी है। किन्तु जीव बन्धन में पड़ कर कर्म–फल का भोक्ता होता है। वह अल्पज्ञ, अल्प–शक्तिमान् तथा अपूर्ण है। कर्म–फल का भोग करने के कारण वह संसरण करता है।

सदानन्द ने वेदान्तसार में बार–बार ईश्वर तथा जीव की एकता का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध केवल समष्टि और व्यष्टि का है। जैसे वन को समष्टि की दष्टि से वन कहते हैं, तथा व्यष्टि की दष्टि से वक्ष कहते हैं किन्तु वास्तव में वे अभिन्न हैं, उसी प्रकार समष्टि–अज्ञान तथा व्यष्टि–अज्ञान भी वास्तव में अभिन्न हैं। साथ ही जिस प्रकार वन से अवच्छिन्न आकाश तथा वक्ष से अवच्छिन्न आकाश भिन्न प्रतीत होते हुए भी वास्तव में एक ही हैं, उसी प्रकार समष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य तथा व्यष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य भी वास्तव में एक हैं। सदानन्द की दूसरी उपमा के अनुसार जिस प्रकार जलों को व्यष्टि की दष्टि से जल तथा समष्टि की दष्टि से सरोवर कहते हैं, किन्तु वे एक ही हैं, उसी प्रकार व्यक्ति–अज्ञान तथा समष्टि–अज्ञान भी वास्तव में एक हैं। साथ ही जिस प्रकार जलों में प्रतिबिम्बित आकाश तथा सरोवर में प्रतिबिम्बित आकाश एक ही है उसी प्रकार व्यष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य तथा समष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य भी एक है। सदानन्द की इन उपमाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि जीव तथा ब्रह्म का सम्बन्ध केवल अंश और अंशी का सम्बन्ध है। किन्तु ऐसा मानने पर जीवगत सभी दोष ईश्वर में भी मानने पड़ेंगे जो वेदान्त को स्वीकार्य नहीं है। स्वयं सदानन्द ने ईश्वर की उपाधि को विशुद्ध–सत्व–प्रधान और जीवन की उपाधि को मलिन–सत्व–प्रधान कहा है।इससे स्पष्ट है कि उपाधिगत भेद केवल अंश–अंशी का ही भेद नहीं है।

६ अध्यारोप तथा सष्टि प्र क्रिया

सष्टि–विचार का आधार श्रुति – अद्वैत–वेदान्त में जो कुछ सष्टि–विचार हुआ है उसके लिए कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया गया, अपितु श्रुति में बतायी गयी सष्टि प्र क्रिया की व्याख्या ही उसने की है। श्रुति के मत को वेदान्त–सम्मत प्रस्तुत करने के लिए अवश्य तर्क दिये गये है। उदाहरणार्थ शंकराचार्य विस्तार से इस बात को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है कि श्रुतियों में जो सष्टि–प्रक्रिया बतलायी गयी है उसमें मूल कारण चेतन ब्रह्म है, न कि अचेतन प्रकति।

अद्वैत–वेदान्त की सष्टि–प्रक्रिया का आधारभूत सिद्धान्त : अध्यारोप – अद्वैत–वेदान्त में जो भी सष्टि–प्रक्रिया बतलायी गयी है उसका मूल आधार 'अध्यारोप' है। अध्यारोप की परिभाषा देते हुए सदानन्द कहते हैं–

असर्पभूतायां रज्जौ सर्पारोपवद्वस्तुन्यवस्त्वारोपोध्यारोपः।

अर्थात् 'जो सर्प नहीं है, ऐसी रस्सी पर सर्प के आरोप के समान "वस्तु" पर "अवस्तु" का आरोप अध्यारोप है।

अतः अध्यारोप केवल एक मिथ्या प्रतीति या भ्रान्ति है जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति अथवा सीपी में चाँदी की भ्रान्ति। इस अध्यारोप में हम किसी वस्तु को ऐसी वस्तु समझ बैठते हैं जो वह नहीं है। सष्टि–प्रसंग में वस्तु है 'सच्चिदानन्द स्वरूप वाला अनन्त तथा अखण्ड ब्रह्म' तथा उस पर जिसका आरोप किया जाता है वह है 'अज्ञान से आरम्भ कर सम्पूर्ण जड़–समूह'। तात्पर्य यह है कि यह सारी सष्टि ब्रह्म में केवल मिथ्या प्रतीति है, वास्तविक सष्टि नहीं। वेदान्त के शब्दों में यह ब्रह्म का 'विवर्त' है, 'परिणाम' नहीं है। 'विवर्त' उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु के रूप में प्रतीत होने लगे किन्तु वास्तव में दूसरी वस्तु न बन जाये। 'परिणाम' वस्तु के वास्तव में दूसरे रूप में परिणत हो जाने को कहते हैं। वेदान्त यद्यपि पारमार्थिक दष्टि से सम्पूर्ण सष्टि को ब्रह्म का विवर्त मानता है किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिये कि व्यावहारिक दष्टि से वेदान्त

'परिणामवाद' में भी विश्वास करता है और सम्पूर्ण सष्टि–प्र क्रिया का वर्णन ऐसे करता है जैसे यह सष्टि विवर्त न होकर परिणाम हो।

सष्टि-प्रक्रिया – अद्वैत–वेदान्त के अनुसार सारी सष्टि का मूल कारण अज्ञान से उपहित चैतन्य है। यह निमित्त कारण भी है, उपादान कारण भी। चैतन्य की दष्टि से यह निमित्त कारण है तथा अज्ञान की दष्टि से उपादान कारण। शुद्ध–चैतन्य वास्तव में अविकत करता है, जितना भी विकास होता है, सब अज्ञान में और उस विकत अज्ञान से उपहित होकर चैतन्य नाना प्रकार से सष्टि के रूप में प्रतीत होने लगता है।

अज्ञान को दो दष्टियों से देखा जा सकता है, एक समष्टि की दष्टि से अर्थात् सम्पूर्ण अज्ञान को एक रूप में, और दूसरे व्यष्टि के रूप में अर्थात् अज्ञान के अवयवों को अलग–अलग देखते हुए। इस समष्टि–अज्ञान को 'कारण–शरीर' भी कहा जाता है क्योंकि यह सम्पूर्ण सष्टि का कारण है। इसे 'आनन्दमयकोश' भी कहा जाता है क्योंकि आनन्दमय चैतन्य का आच्छादक होने के कारण यह उसके कोश के समान है। इसे सुषुप्ति भी कहा जाता है क्योंकि सम्पूर्ण सष्टि और प्रलय–काल में इसमें लीन हो जाती है। इसी कारण इसे 'स्थूलसूक्ष्मप्रपचलस्थान' कहा जाता है – क्योंकि स्थूल तथा सूक्ष्म, दोनों प्रकार की सष्टि का इसमें लय हो जाता है। इस समष्टि अज्ञान से उपहित चैतन्य को ही 'ईश्वर' कहा जाता है जो सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियन्तत्व आदि गुणों वाला है, अव्यक्त है, अन्तर्यामी है तथा जगत् का कारण है। समष्टि–अज्ञान उत्कष्ट ईश्वर की उपाधि होने के कारण शुद्ध–सत्त्व–गुण–प्रधान माना गया है। दूसरी ओर व्यष्टि–अज्ञान जीव की उपाधि है अतः इसमें मलिन–सत्त्व–गुण अर्थात् रजस् तथा तमस् गुणों से अभिभूत सत्त्व–गुण की प्रधानता है। व्यष्टि–अज्ञान से उपहित चैतन्य अल्पज्ञत्व तथा अनीश्वरत्व आदि गुणों वाला होता है और इसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है। ईश्वर के समान ही प्राज्ञ के भी दूसरे नाम 'कारण–शरीर', 'आनन्दमयकोश', 'सुषुप्ति' तथा 'स्थूलसूक्ष्मप्रपचलयस्थान' हैं।

'ईश्वर' तथा 'प्राज्ञ' कारणवस्था में ही होते हैं, अभी इनमें विकार उत्पन्न नहीं होता। इनमें तमोगुण–प्रधान विक्षेपशक्ति से युक्त अज्ञान से उपहित चैतन्य से आकाश उत्पन्न होता है आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पथिवी उत्पन्न होती है। ये पाँच सूक्ष्म भूत हैं जिन्हें 'तन्मात्र' या 'अपचीकत भूत' भी कहा जाता है क्योंकि इनमें भूत अपनी शुद्ध अवस्था में रहते हैं (तन्मात्र – तत् मात्र), इनमें अभी परस्पर मिश्रण नही होता। ये सब जड़ है अतः इनमें तमोगुण की प्रधानता होती है, यद्यपि इनके कारण में सत्त्व तथा रजस् गुण होने के कारण इनमें भी ये दोनों गुण आ जाते हैं। इन सूक्ष्म भूतों से दो प्रकार की सष्टि होती है – एक ओर तो सूक्ष्म शरीर या लिड्.ग – शरीर उत्पन्न होते हैं, दूसरी और स्थूल भूत उत्पन्न होते हैं। लिड्.ग–शरीर सत्रह अवयवों का समूह होता है। सत्रह अवयव है – पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मनस्, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्ना तथ ध्राण। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ आकाशादि के सात्त्विक अंशों से अलग–अलग उत्पन्न होती हैं अर्थात् आकाश से श्रोत्र, वायु से त्वचा, अग्नि से चक्षु, जल से जिह्ना तथा पथिवी से घ्राण। 'बुद्धि' अन्तःकरण की निश्चयात्मिका वत्ति है तथा 'मनस्' संकल्पविकल्पात्मक। 'चित्' तथा 'अहंकार भी अन्तकरण के भाग माने गये है किन्तु इनका अन्तर्भाव बुद्धि तथा मनस् में (चित्त का बुद्धि में तथा अहंकार का मनस् में) हो जाता है। बुद्धि तथा मनस् की उत्पत्ति आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के सावित्त्क अंशों के मिले हुए रूप में होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि तथा मनस् प्रकाशात्मक है, इनका स्वरूप है अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करना, अतः इनको सत्त्वगुण का कार्य माना गया है। बुद्धि ज्ञानेन्द्रियों के साथ 'विज्ञानमयकोश' कहलाती है। बुद्धि तथा मनस् से उपहित चैतन्य कर्तत्व, भोक्तत्व, सुखितत्त्व तथा दुःखितम्व का अभिमानी होता है, अर्थात् वह यह समझता है कि इन सब कार्यो को वह स्वयं कर रहा है। सदानन्द इसे ही इस लोक तथा परलोक में गमन करने वाला 'जीव' मानते है। किन्तु वेदान्त में सामान्यतः पूरा लिड्.ग–शरीर ही संसरण करने वाला माना गया है। मनस् ज्ञानेन्द्रियों के साथ मनोमय–कोश कहलाता है। पाँच कर्मेन्द्रियाँ है 'वाक्', 'पाणि', 'पाद', 'पायु' (गुदा) तथा 'उपस्थ' (जननेन्द्रिय) तथा पाँच वायु हैं प्राण, अपान, व्यान, उदान तथा समान। पाँच कर्मेन्द्रियां आकाश आदि सूक्ष्म भूतों के रसज्–गुण के अंश से अलग–अलग क्रमशः उत्पन्न होती हैं। पाँच कर्मेन्द्रियों तथा पाँच वायुओं के समूह को 'प्राणमयकोश' कहा गया है। ये सब क्रियात्मक हैं, अतः इनको रजोगुण का कार्य माना गया है। ऊपर बताये गये लिड्.ग–शरीर के सत्रह अवयव तीन प्रकार के कोशों – विज्ञानमयकोश, मनोमयकोश तथा प्राणमयकोश – के अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः इन तीनों कोशों के समूह को लिड्.ग शरीर कह सकते हैं। लिड्.ग–शरीरों की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'सूत्रात्मा', 'हिरण्यगर्भ' तथा 'प्राज्ञ' भी कहा जाता है, तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'तैजस' कहा जाता है। 'सूत्रात्मा' तथा 'तैजस' इन दोनों की स्थिति 'स्वप्न' कहलाती है क्योंकि इनमें जाग्रत् अवस्था की वासनाएँ या सूक्ष्म संस्कार रहते हैं। प्रलय की प्रक्रिया में इन्हीं में स्थूल शरीर लीन होते हैं अतः इन्हें 'स्थूल–शरीरलयस्थान भी कहा जाता है। ये दोनों सूत्रात्मा तथा तैजस इस स्वप्नावस्था में मनोवत्तियों के द्वारा सूक्ष्म विषयों का अनुभव करते रहते है।

पचीकरण – सूक्ष्म भूतों से दूसरी ओर स्थूल भूतों की उत्पत्ति होती है जो पचीकरण प्रक्रिया द्वारा होती है। पचीकरण में प्रत्येक भूत का आधा अंश तो अपने में ही बना रहता है और शेष आधा अन्य चारों भूतों में बराबर–बराबर मिल जाता है। इस प्रकार प्रत्येक भूत में आधा अंश अपना रहता है तथा शेष आधे में बाकी चारों भूतों के अश आ जाते हैं। पचीकत भूत ही स्थूल भूत होते हैं। इनकी उत्पत्ति होने पर क्रमशः इनके गुण भी इनमें प्रकट हो जाते हैं – आकाश में शब्द, वायु में शब्द तथा स्पर्श, अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप, जलों में शब्द, स्पर्श, रूप, तथा रस और पथिवी में शब्द स्पर्श, रूप, रस तथा गंध गुणों की उत्पत्ति हो जाती है।

इन स्थूल भूतों से सात ऊपर के लोक – भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य – तथा सात नीचे विद्यमान लोक–अतल, वितल, सुतल, रसाताल, तलातल, महातल तथा पाताल – उत्पन्न हो जाते हैं। ये चौदह लोक लोकालोक पर्वत, पथिवी तथा समुद्रों सहित बह्माण्ड कहलाते हैं। स्थूल भूतों से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, उसके अन्तर्गत चार प्रकार के शरीर तथा उन शरीरों के लिए भोजन तथा पेय की उत्पत्ति होती है। चार प्रकार के शरीर हैं – जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज तथा स्वेदज। गर्भ से उत्पन्न मनुष्य, पशु आदि को 'जरायुज', अण्डे से उत्पन्न पक्षी, सर्प आदि को 'अण्डज', भूमि को भेदकर उत्पन्न लता, तण तथा वक्ष आदि को 'उद्भिज्ज' तथा पसीने से उत्पन्न ज ॅू मच्छर आदि को 'स्वेदज' कहा जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण स्थूल सष्टि उत्पन्न हो जाती है। यहाँ स्थूल शरीर की समष्टि से उपहित चैतन्य को 'वैश्वानर' या 'विराट्' कहा जाता है तथा व्यष्टि से उपहित चैतन्य को 'विश्व' कहा जाता है। इन स्थूल शरीरों की समष्टि तथा व्यष्टि दोनों को अन्य का विकार होने के कारण 'अन्नमयकोश', कहा जाता है तथा स्थूल विषयों का अनुभव करने के कारण इन्हें 'जाग्रत्' कहा जाता है। ये वैश्वानर तथा विश्व दोनों अपने अन्तःकरण – बुद्धि, मनस्, चित्त तथा अहंकार – द्वारा स्थूल विषयों का अनुभव करते हैं।

साथ ही चैतन्य की व्यष्टि तथा समाष्टि रूप में विकास–प्रक्रिया को इस प्रकार प्रदर्शित किया जा सकता है।

शरीर-नाम	**समष्टि-नाम**	**व्यष्टि-नाम**	**सामान्य नाम**
१. कारण–शरीर	ईश्वर	प्राज्ञ	आनन्दमयकोश, सुषुप्ति, स्थूल–सूक्ष्म–प्रपचलयस्थान
२. लिंड्.ग(सूक्ष्म) शरीर	सूत्रात्मा, हिरणयगर्भ, प्राण	तैजस	कोशत्रय (विज्ञानमय़ मनोमय. प्राणमय) स्वप्न, स्थूल–शरीरलयस्थान
३. स्थूल शरीर	वैश्वानर, विराट्	विश्व	अन्नमयकोश, जाग्रत्

अपवाद तथा प्रलय

'अध्यारोप' का उलटा 'अपवाद' है। अध्यारोप में हम 'वस्तु' पर 'अवस्तु' का आरोप करते हैं। यह आरोप एक मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या ज्ञान की समाप्ति पर जब हम वस्तु को उसके वास्तविक रूप से जान लेते हैं तो वह अपवाद होता है। उदाहरण के लिए रज्जु में सर्प का ज्ञान 'अध्यारोप' है और रज्जु में सर्प का ज्ञान समाप्त होकर उसे रज्जु–रूप में जान लेना 'अपवाद' है। सष्टि–प्र क्रिया के प्रसंग में ब्रह्म पर सम्पूर्ण सष्टि का आरोप 'अध्यारोप' है तथा सष्टि के मिथ्यात्व का ज्ञान होने पर उसके प्रलय के साथ शुद्ध ब्रह्म का ज्ञान होना 'अपवाद' है।

अपवाद के होने पर सष्टि के उलटे क्रम का अनुसरण कर हम शुद्ध–चैतन्य पर पहुँच जाते हैं। सबसे पहले चारों शरीर, भोजन, पेय, चौदह लोक तथा ब्रह्माण्ड अपने कारण स्थूल भूतों में लय हो जाते हैं। शब्द आदि विषयों सहित स्थूल भूत तथा सूक्ष्म शरीर अपने कारण सूक्ष्म भूतों में लीन हो जाते हैं। सूक्ष्म भूत अपने कारण अज्ञान से उपहित चैतन्य में लीन हो जाते हैं। अन्त में अज्ञान तथा अज्ञान से उपहित चैतन्य–ईश्वर आदि – अपने आधारभूत शुद्ध चैतन्य या तुरीय चैतन्य में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार शुद्ध–चैतन्य मात्र की अनुभूति रह जाती है।

महावाक्य

वेदान्तसार में स्थान–स्थान पर महावाक्य का प्रसंग आया है, अतः इसको जान लेना उपयोगी होगा। वैसे भी अद्वैत–वेदान्त में महावाक्यों का अत्याधिक महत्त्व है।

महावाक्यों में प्रायः जीव तथा ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन किया है या ब्रह्म का स्वरूप बतलाया गया है। वास्तव

में उपनिषद्–ज्ञान का यही सार है। अतः इन वाक्यों के अर्थ को समझने तथा अनुभव करने से मुक्ति–प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए इन्हें महावाक्य कहा गया है।

वेदान्त में तत्त्वमसि

महाकाव्य बहुत प्रसिद्ध है जिसका विवेचन इस प्रकार है शिष्य जब गुरू के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाता है तो गुरू उसे अध्यारोप तथा अपवाद की प्रक्रिया समझाने के बाद उपदेश देता है – 'तत्त्वमसि'–'तुम वह हो' जिसमें जीव की और ईश्वर की एकता का प्रतिपादन है। इस एकता के ज्ञान से वह 'अखण्ड–चैतन्य' का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। किन्तु जीव और ईश्वर आपाततः पथक् हैं, उनमें एकता का ग्रहण कैसे हो सकता है? अद्वैत–वेदान्त के अनुसार इस उपदेश–वाक्य का अर्थ समझने के लिए शिष्यों को तीन प्रकार के सम्बन्धों का सहारा लेना पड़ता है :–

(१) सामानधिकरण्य (२) विशेषण–विशेष्य–भाव (३) लक्ष्य–लक्षण–सम्बन्ध।

सामानाधिकरण्य का अर्थ है समान अधिकरण अर्थात् आधार वाला होना। इस सम्बन्ध के द्वारा भिन्न अर्थ वाले शब्दों का भी तात्पर्य एक ही वस्तु से सम्बद्ध किया जाता है। उदाहरणार्थ 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य में हमने देवदत्त नामक किसी व्यक्ति को कभी पहले देखा है और अब भी देख रहे हैं और अब देखकर हम पहचान रहे हैं कि 'यह वही देवदत्त है'। इस वाक्य में 'सः' तत्कालविशिष्ट देवदत्त का वाचक है और 'अयं' एतत्कालविशिष्ट देवदत्त का। दोनों भिन्न अर्थो के वाचक है। सामानाधिकरण्य द्वारा दोनों पदों का एक ही पिण्ड–'देवदत्त' में तात्पर्य रूप सम्बन्ध ग्रहण किया जाता है – यह समझा जाता है कि दोनों पदों के अर्थों का आधार एक ही देवदत्त रूपी पिण्ड है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' 'ईश्वर' अर्थात् 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' का वाचक है तथा 'त्वम्' 'जीव', अर्थात् 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' का। सामानाधिकरण्य सम्बन्ध द्वारा 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दोनों पदों का एक ही चैतन्य में तात्पर्य रूप सम्बन्ध हो जाता है।

विशेषणविशेष्यभाव–सम्बन्ध का अर्थ है दोनों पदों के अर्थों का एक–दूसरे के प्रति विशेषण तथा विशेष्य हो जाना। विशेषण सदैव विशेष्य में अपने से भिन्न प्रकार के पदार्थो का व्यावर्तन अर्थात् निषेध कर देता है। उदाहरणार्थ :–

जब हम कहते है कि 'यह कमल नीला है' तो इसमें 'नीला' विशेषण 'कमल' रूप विशेष्य में नीले से भिन्न रंगों का व्यावर्तन अर्थात् निषेध कर देता है। 'सोयं देवदत्तः' इस वाक्य में विशेषणविशेष्य–भाव–सम्बन्ध के द्वारा 'सः' पद का अर्थ (तत्कालविशिष्ट देवदत्त) अयम् पद के अर्थ (एतत्कालविशिष्ट देवदत्त) का विशेषण बनकर अपने विशेष्य 'अयम्' पद के अर्थ में 'सः' पद के अर्थ से भिन्न प्रकार के अर्थ का व्यावर्तन कर देता है तथा 'अयम्' पद के अर्थ में 'सः' पद के अर्थ का विशेषण बनकर अपने विशेष्य 'अयम्' पद के अर्थ में 'सः' पद के अर्थ से भिन्न प्रकार के अर्थो का व्यावर्तन कर देता है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में विशेषण–विशेष्य–भाव–सम्बन्ध द्वारा 'तत्' पद का अर्थ (परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य) 'त्वम्' पद के अर्थ (अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य) का विशेषण बनकर 'त्वम्' पद के अर्थ रूप विशेष्य में अपने से भिन्न प्रकार के अर्थ का व्यावर्तन कर देता है और 'त्वम्' पद का अर्थ (अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य) 'तत्' पद के अर्थ (परोक्षत्वादिविशिष्टि चैतन्य) का विशेषण बनकर अपने विशेष्य 'तत्' पद के अर्थ में अपने से भिन्न अर्थ का व्यावर्तन कर देता है।

किन्तु अपने से भिन्न प्रकार के अर्थो का व्यावर्तन यहाँ वाक्य की अभिधा शक्ति से नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ विशेषण तथा विशेष्य अर्थो में विरोधी तत्त्व उपस्थित हैं। अतः इन विरोधी तत्त्वों के व्यावर्तन के लिए हमें लक्षणा–शक्ति का आश्रय लेकर अर्थ ग्रहण करना होता है। लक्ष्य–लक्षण–सम्बन्ध द्वारा 'सोयं देवदत्तः' इन वाक्य में 'सः' शब्द अथवा इसका अर्थ (तत्कालविशिष्ट देवदत्त) लक्षक होकर 'तत्कालविशिष्टत्व' रूप विरोधी अंश को छोड़कर अविरूद्ध देवदत्त को लक्षित करता है तथा 'अयम्' पद या इसका अर्थ (एतत्कालविशिष्ट देवदत्त) लक्षक बनकर 'एतत्काल–विशिष्टत्व' रूप विरोधी अंश का परित्याग कर अविरूद्ध देवदत्त को लक्षित करता है। इस प्रकार लक्ष्यलक्षण सम्बन्ध द्वारा 'सः' तथा 'अयम्' दोनों पदों का अर्थ केवल 'देवदत्त' रह जाता है और दोनों में अभिन्नता स्थापित हो जाती है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी लक्ष्यलक्षण–सम्बन्ध द्वारा 'तत्' पद अथवा इसका अर्थ (परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्य) लक्षक बनकर अपने विरोधी अंश 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' का त्याग कर अविरूद्ध 'शुद्ध–चैतन्य' को लक्षित करता है और 'त्वम्' पद अथवा इसका अर्थ (अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य) लक्षक बनकर अपने विरोधी अंश 'अपरोक्षत्वादि विशिष्टत्व' का परित्याग कर अविरूद्ध 'शुद्ध चैतन्य' को लक्षित करता है। इस प्रकार यहाँ भी 'तत्' तथा 'त्वम्' इन दोनों पदों का अर्थ 'शुद्ध–चैतन्य' रह जाता है जिसमें कोई विरोध नहीं है और दोनों की अभिन्नता स्थापित हो जाती है। दोनों पदों के अर्थो की अभिन्नता ग्रहण करना ही वाक्य के अर्थ को ग्रहण करना है।

किन्तु 'लक्ष्य–लक्षण–सम्बन्ध' में हमने यहाँ जिस लक्षणा का आश्रय लिया है वह सामान्य लक्षणा नहीं, अपितु एक

विशिष्ट प्रकार की लक्षणा है जिसे 'जहदजहद्लक्षणा', 'भागत्याग लक्षणा' या संक्षेप में केवल 'भाग लक्षणा' कहा जाता है । अद्वैतवेदान्त इस बात पर जोर देता है कि हमें 'तत्त्वमसि' वाक्य के अर्थ को ग्रहण करने के लिए इस 'भागलक्षणा' को स्वीकार करना आवश्यक है, इसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता। इसका कारण निम्नलिखित है–

सबसे पहले तो यह समझना आवश्यक है कि यहाँ हमे लक्षणा का सहारा क्यों लेना पड़ता है, भाषा की सामान्य शक्ति 'अभिधा' से काम क्यों नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि यहाँ सामान्य रूप से पाये जाने वाले विशेषण–विशेष्य–सम्बन्ध वाले वाक्यों के समान अर्थ नहीं निकल सकता। सामान्य विशेषण–विशेष्य–सम्बन्ध वाले वाक्यों में उदाहरणस्वरूप 'नीलमुत्पलम्' (कमल नीला है) वाक्य को लिया जा सकता है। इस वाक्य में अर्थ का ग्रहण अभिधा द्वारा तीन प्रकार से हो सकता है –

(१) अन्योन्यविशेषणविशेष्यभाव–संसर्ग – अर्थात् परस्पर दोनों पदों में विशेषण–विशेष्य–भाव रूप सम्बन्ध का होना– दोनों एक–दूसरे के प्रति विशेषण तथा विशेष्य हों। इसके अनुसार इसका अर्थ होगा 'नील से विशिष्ट उत्पल तथा उत्पल से विशिट नील'।

(२) अन्यतरविशिष्ट–अन्य – अर्थात् एक से विशिष्ट दूसरा। इसके अनुसार वाक्य के दो अर्थ हो सकते हैं – (१) नील से विशिष्ट उत्पल (२) उत्पल से विशिष्ट नील।

(३) तदैक्य – अर्थात् दोनों की एकता। इसके अनुसार वाक्य का अर्थ होगा 'जो नील है वही उत्पल है'। किन्तु दोनों की एकता का तात्पर्य यहाँ अखण्ड रूप से अभिन्न होना नहीं है क्योंकि 'नील' तथा 'उत्पल' एक ही अर्थ का कथन नहीं करते। यहाँ एकता का तात्पर्य या तो 'गुण–गुणी' होना लिया जा सकता है या यह माना जा सकता है कि दोनों का प्रवत्ति–निमित्त भिन्न होते हुए भी संकेतित अर्थ एक ही है। तात्पर्य यह है कि जिस पदार्थ को यहाँ नील कहा गया है, उसी को उत्पल कहा गया है।

'नीलमुत्पलम्' वाक्य में हम उपर्युक्त तीनों अर्थो में कोई भी अर्थ ले सकते है क्योंकि किसी भी अर्थ को स्वीकार करने में हमे प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से कोई विरोध उत्पन्न होता हुआ दिखलायी नहीं पड़ता।

किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में यदि हम उपर्युक्त तीनों अर्थो में कोई भी अर्थ ग्रहण करना चाहे तो विरोध उपस्थित हो जाता है क्योंकि 'तत्' तथा 'त्वम्' के अर्थो में विरोधी अंश 'परोक्षत्वादि–विशिष्टत्व' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' के रूप में उपस्थित है जो दोनों एक साथ नहीं रह सकते। दूसरी बात यह भी है कि 'तत्त्वमसि' वाक्य में उस प्रकार की अभिन्नता अभिप्रेत भी नहीं जो 'नीलमुत्पलम्' वाक्य के अर्थ में आती है क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में अभिन्नता का स्वरूप या तो 'विशिष्टता' (अन्योन्यविशिष्ट होना या किसी एक से विशिष्ट दूसरे का होना) है या 'ऐक्य' (गुणगुणी रूप ऐक्य या संकेतित अर्थ का ऐक्य) रूप सम्बन्ध है, जिनमें से कोई भी 'तत्त्वमसि' द्वारा अभ्रिप्रेत नहीं है। 'तत्त्वमसि' द्वारा तो 'अखण्ड–एकरस' रूप में वाक्यार्थ अभिप्रेत है – जिसमें दोनों पदों के अर्थो में न केवल संकेतित अर्थ की एकता हो अपितु शक्यार्थ की भी एकता हो। कहा भी गया है–

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मतः।
अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मतः।।

'(तत्त्वमसि) वाक्य में वाक्यार्थ न तो 'संसर्ग' (गुण–गुणी का सम्बन्ध या संकेतित अर्थ की एकता) रूप में स्वीकार्य है न 'विशिष्ट' रूप में। (यहाँ तो) विद्वानों द्वारा वाक्यार्थ 'अखण्ड एकरस' रूप में माना गया है।'

अतः 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ ग्रहण करने के लिए हम लक्षणा का आश्रय लेना पड़ता है। सामान्यतः लक्षणा दो प्रकार की मानी जाती है – (१) 'लक्षण–लक्षणा' या 'जहल्लक्षणा', और (२) 'उपादान–लक्षणा' या 'अजहल्लक्षणा'। पहली अर्थात् जहल्लक्षणा में वाक्य या पद अपने अर्थ को पूर्णतः छोड़कर अपने अर्थ से सम्बन्धित किसी दूसरे अर्थ को ग्रहण कर लेता है। उदाहरणार्थ 'गङ्.गायां घोषः प्रतिवसति' – 'गंगा पर घोष (घोसियों का गाँव) है।' इस वाक्य में अभिधा द्वारा वाक्य का अर्थ 'आधाराधेय' रूप है – गंगा रूप आधार पर घोष रूप आधेय है। किन्तु इस अर्थ में विरोध है क्योंकि गंगा का अर्थ है एक विशिष्ट जलधारा जिस पर गाँव स्थित नहीं हो सकता। अतः यहाँ हम 'गंगा' पद के मुख्य अर्थ को पूर्णतः छोड़कर उससे सम्बन्धित 'तीर' अथ ग्रहण कर लेते हैं और वाक्य का अर्थ हो जाता है – 'गंगा के तीर पर घोष है' जिसमें कोई विरोध नहीं है। दूसरी अर्थात् अजहल्लक्षणा में वाक्य या पद अपने अर्थ को छोड़ता नहीं है, अर्थ को संगत करने के लिए अपने अर्थ को भी बनाये रखता है और एक नये अर्थ का भी आक्षेप कर लेता है। उदाहरणार्थ 'शोणो धावति' – 'लाल दौड़ रहा है' वाक्य में 'शोण' पद एक गुण का वाचक है जो स्वयं दौड़ने में असमर्थ हैं। अतः शोण–गुण के आधार के रूप में हम 'अश्व' का आक्षेप कर लेते हैं और

अर्थ हो जाता है 'शोणः अश्वः धावति' – 'लाल घोड़ा दौड़ रहा है' जिसमें कोई असंगतता नहीं है।

'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ करने में न तो जहल्लक्षणा से काम चलता है न अजहल्लक्षणा से। जहल्लक्षणा में पद के अर्थ का पूर्णतः परित्याग कर दिया जाता है। 'तत्' तथा 'त्वम्' के अर्थो का पूर्णतः परित्याग उचित नहीं है क्योंकि यहाँ विरोध अर्थो के अंश (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व) में है, अतः हम अर्थो के पूर्ण परित्याग से अपने अभिप्रेत अर्थ 'शुद्ध–चैतन्य' को प्राप्त नहीं कर सकते। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जिस प्रकार 'गङ्.गायां घोषः प्रति वसति' में 'गंगा' पद अपने अर्थ का पूर्णतः परित्याग करके 'तीर' पद के अर्थ को लक्षित करता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'तत्' पद अपने अर्थ का परित्याग कर 'त्वम्' पद के अर्थ को लक्षित करे, अथवा 'त्वम्' पद अपने अर्थ का परित्याग कर 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करे, अतः यहाँ भी जहल्लक्षणा बन जानी चाहिये। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। 'गङ्.गायां घोषः' में 'तीर' पद का ग्रहण न होने के कारण अभिधा द्वारा उसके अर्थ की प्रतीति नहीं हो रही, अतः लक्षणा द्वारा उसकी प्रतीति की अपेक्षा है। किन्तु 'तत्त्वमसि' में 'तत्' तथा 'त्वम्' दोनों पदों को ग्रहण किया गया है और उनके अर्थो को प्रतीति अभिधा द्वारा ही हो रही है, अतः लक्षणा द्वारा किसी एक पद से दूसरे पद के अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा ही नहीं है।

अजहल्लक्षणा में पद अपने अर्थ को न छोड़कर अर्थ की संगति के लिए अपने से सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ का आक्षेप कर लेता है। 'तत्त्वमसि' में यदि 'तत्' तथा 'त्वम्' पद अपने अर्थ 'परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य' को न छोड़ते हुए किसी अन्य अर्थ का आक्षेप करते हैं तो इनके अर्थों में जो 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' तथा 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' में विरोध है वह किसी प्रकार भी दूर नहीं होगा। अतः यहाँ अजहल्लक्षणा द्वारा अर्थ–ग्रहण सम्भव नहीं है। यहाँ भी एक शंका हो सकती है। यदि हम यह मान लें कि 'तत्' पद अपने अर्थ के विरूद्ध–अंश 'परोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को त्याग कर बचे हुए अंश 'चैतन्य' के साथ 'त्वम्' पद के अर्थ को लक्षित करे, अथवा 'त्वम्' पद अपने विरुद्धांश 'अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व' को छोड़कर बचे हुए अंश चैतन्य के साथ 'तत्' पद के अर्थ को लक्षित करे, तो विरोध नहीं होगा और ऐसी भागलक्षणा की आवश्यकता नहीं होगी जिसमें दोनों पद अपने विरोधी अंशों का परित्याग करें। किन्तु यह शंका उचित नहीं है। इसमें दो दोष है : प्रथम तो एक पद द्वारा अपने अर्थ के अंश तथा दूसरे पद के अर्थ इन दोनों में एक साथ लक्षणा असम्भव है। दूसरा दोष यह है कि दूसरे पद के अर्थ का प्रतीति तो अभिधा द्वारा ही हो रही है, अतः लक्षणा द्वारा उसके अर्थ की प्रतीति की अपेक्षा नहीं है।

अतः यह मानना पड़ता है कि भागलक्षणा द्वारा 'तत्' तथा 'त्वम्' पद अपने विरोधी अंशों का परित्याग करके अविरूद्ध 'चैतन्य' रूपी अर्थ लक्षित करते हैं और 'तत्त्वमसि' वाक्य में 'अखण्ड–एकरस' रूप अभिन्नता का ग्रहण हो जाता है।

७ समाधि विवेचन

समाधि दो प्रकार की है – सविकल्पक तथा निर्विकल्पक समाधि

(१) सविकल्पक समाधि – सविकल्पक समाधि का अर्थ है वह समाधि जो ज्ञात, ज्ञान, ज्ञेय की त्रिपुटी के साथ हो, जिसमें इनका विलय नहीं होता। प्रत्युत इनकी उपस्थिति बनी रहती है। चित्तवत्ति आत्मतत्त्व से उपरक्त होकर उसी में स्थिर हो जाती है। परन्तु इस बात का भान होता रहता है कि मैं ज्ञाता हूं, आत्मवस्तु ज्ञेय है, और इसके ज्ञान की प्रक्रिया चल रही है। उस स्थिति का वर्णन करते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार कुम्हार के द्वारा बनाए गए मिट्टी के हाथी में हाथी की प्रतीति होने पर भी उसके मिथ्यात्व और मिट्टी के सत्यत्व का बोध होता रहता है, उसी प्रकार अद्वैतकार रूप से परिणत हुये, चित्त में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की प्रतीति होने पर भी उसे मिथ्यात्व का भान होता रहता है। साथ ही अद्वैत तत्व (ब्रह्म) की सत्यता या परमार्थता भी भासित होती रहती है।

निर्विकल्पक समाधि

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के विकल्प के विलीन हो जाने की अपेक्षा से अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) में, उसके आकार से आकारित चित्तवत्ति का आत्यन्तिक रूप से स्थित हो जाना निर्विकल्पक समाधि है। उस समय अद्वितीय वस्तु के आकार के अकारित चित्तवत्ति का, जलाकारित लवण की भांति भान न होकर अद्वितीय वस्तु (ब्रह्म) मात्र का भी भान होता है। इसी से सुषुप्ति और इसमें (निर्विकल्पक समाधि में) अभेद होने की शङ्.का नहीं होती है। दोनों में चित्तवत्ति का भान न होने की समानता होने पर भी, उसका (समाधि में) अस्तित्व होने पर और (सुषुप्ति में) अभाव होने पर इन दोनों का भेद सिद्ध होता है।

निर्विकल्पक समाधि के अंङ्.ग

इस (निर्विकल्पक समाधि) के अंङ्.ग हैं – यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। इनमें अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य (और) अपरिग्रह – ये यम हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये नियम

हैं।

यम - 'यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्म ही है' ऐसा मानकर इन्द्रिय निग्रह करना यम है। अहिंसादि यमों के पालन से इन्द्रियां वश में होती हैं, जिनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है–

१. अहिंसा – मनसा, वाचा और कर्मणा या शरीर से किसी को पीड़ा न पहुंचाना अहिंसा है।

२. सत्य – यथार्थ भाषण करना सत्य है (सत्यं यथार्थभाषणम्) यह यथार्थ भाषण सर्वभूतहितकर होना चाहिए। यदि किसी यथार्थभाषण से किसी प्राणी को कष्ट होता है तो ऐसा सत्य पाप का ही कारण होगा। क्योंकि पूर्वोक्त अहिंसा का अतिक्रमण इससे होता है।

३. अस्तेय - स्वेच्छा से दी हुई परायी वस्तु को ग्रहण न करना अस्तेय है। इतना ही नहीं परायी वस्तु के प्रति स्पहा तक न होना अस्तेय है, क्योंकि किसी वस्तु के अपहरण के पूर्व ही एतद्विषयक भाव मन में उठते है जो स्तेय क्रिया की निष्पत्ति के प्रथम पादन्यास हैं। अतएव दूसरे के वस्तु का अपहरण करना मात्र ही नहीं अपितु उसके प्रति स्पहा भी न करना अस्तेय है।

४. ब्रह्मचर्य – जितेन्द्रिय व्यक्ति का अपनी उपस्थेन्द्रिय पर संयम रखना तथा अष्टाड्.ग मैथुन से विरत रहना ब्रह्मचर्य है। मैथुन के आठ अड्.ग इस प्रकार हैं

स्मरणं, कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।

संड्.कल्पोध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च।

एतन्मैथुनमष्टाड्.ग प्रवदन्ति मनीषिणः।

तात्पर्य यह है कि मात्र उपस्थेन्द्रिय पर नियंत्रण से ही ब्रह्मचर्य संभव नहीं है अपितु स्मरणादि मैथुन का भी त्याग कर वीर्य की रक्षा करना ब्रह्मचर्य है।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।

सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते।।

अपरिग्रह

समाधि के असाधनभूत जो वस्तुएं हैं उनका संग्रह न करना अपरिग्रह है। सांसरिक वस्तुओ के प्रति आसक्ति बहुत ही कष्टदायिनी होती है। सर्वप्रथम तो उसका अर्जन तथा दूसरा अर्जित की रक्षा करना बड़ा ही कष्टकारक होता है और कालान्तर में उसक नष्ट हो जाने पर क्लेश भी व्यक्ति को बहुत ही व्यथित करता है। इस प्रकार के सातत्य से व्यक्ति की क्लेश में आत्यन्तिक रूप से सम्पक्ति हो जाती है। विषयों के संग्रह उसके भोग की इच्छा भी उत्पन्न करते हैं जो एक प्रकार से कष्ट में प्रवत्ति है इसलिए विषयों का संग्रह त्याज्य है।

नियम - नियमों का उल्लेख क्रमशः किया जा रहा है –

१. शौच - शौच दो प्रकार कहा गया है (१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। मिट्टी जल आदि से स्वच्छ किए जाने वाले शौच को बाह्म शौच कहते हैं। जैसे अपने शरीर, घर, वस्त्र, भोजनादि की स्वच्छता बाह्मशौच कही जाती है। इसके कारण आन्तरिक या चित्त की मलिनता न उत्पन्न हो अतः बाह्य शौच आवश्यक है।

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, ईर्ष्या, असूया, तथा खिन्नता आदि आन्तरिक अशौच है इनका प्रक्षालन करना ही आभ्यान्तर शौच है। उक्त दोनों शौच से प्रसन्न एवं एकाग्र मन से ही इन्द्रिय निग्रह सम्भव है।

२. सन्तोष – प्रारब्ध से प्राप्त वस्तु से संतोष और न प्राप्त वस्तु के प्रति अविषाद ही संतोष है। भारतीय मनीषियों ने संतोष को परम सुख कहा है।

३. तप – क्षुधा–पिपासा, शीत–उष्ण आदि द्वन्दों से उत्पन्न करने वाले कष्टों को सहन करना तप है। कच्छू चान्द्रायण और सान्तपन आदि व्रतों का करना तप कहा गया है।

४. स्वाध्याय – "प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्रायध्ययनं वा" ओड्.करादि पवित्र मंत्रों का तप तथ मोक्षशास्त्रों या उपनिष्दों का अध्ययन स्वाध्याय है।

जप तीन प्रकार का होता है –

(१) जब कोई दूसरा व्यक्ति भी सुन सके तो उसे श्रव्य जप कहते हैं।

(२) जिसे कोई दूसरा न सुन सके उसे उपांशु जप कहते हैं।

(३) जिससे उच्चारणार्थ जिह्वा ओष्ठादि नहीं हिलते उसे मानस जप कहते हैं।

५. ईश्वर प्रणिधान – समस्त कत कर्मो को परमेश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान है। कहीं पर कर्म फलों का परमेश्वर के लिए त्याग ईश्वर प्रणिधान कहा गया है।

३. आसन

जिस स्थिति में सुख पूर्वक ब्रह्म चिन्तन होता रहे उसे आसन कहते हैं। सुख को नष्ट करने वाली स्थिति आसन नहीं कही जा सकती।

४. प्राणायाम

प्राणायाम में रेचक, पूरक और कुम्भक ये तीन क्रियाएं करनी होती है। प्राणवायु ने नासिका के किसी एक छेद से धीरे–धीरे बारह निकलना रेचक कहलाता है। जिस नासिका छिद्र से रेचक किया हो उसी नासिका छिद्र से प्राणवायु को अंदर खींचना पूरक कहलाता है। पूरक से धीरे–धीरे खींची गई वायु को अन्दर रोके रहना कुम्भक कहलाता है।

५. प्रत्याहार

इन्द्रियों का अपने–अपने विषयों से हटकर चित्त के स्वरूप का अनुकरण कर लेना प्रत्याहार है। अपरोक्षानुभूति के अनुसार समस्त सांसारिक विषयों में आत्मभाव का दर्शन कर मन को चिन्तन में डुबो देना ही प्रत्याहार है।

६. धारणा

आचार्य शङ्.कर के अनुसार – यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्रदर्शनात्। मनसों धारणं चैव धारणा सा परा मता।। अर्थात् मन का सर्वत्र ब्रह्मदर्शन एवं उसी से स्थिर हो जाना सर्वोत्तम धारणा है।

७. ध्यान

योग दर्शन में चित्तवत्ति का तैलधारावत् अद्वितीय ब्रह्म में प्रवाहित होना कहा गया है जबकि अद्वैत वेदान्त में उससे भिन्न माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में रूक–रूक कर (जलधारावत्) प्रवाहित होना ध्यान कहा गया है।

८. समाधि

आठवें अंग समाधि का तो हम अध्ययन ही कर रहे हैं।

विशेष

(आठ) अङ्.गों वाली इस निर्विकल्पक समाधि में लय, विक्षेप, कषाय और रसास्वादन (नामक) चार विघ्न सम्भव होते हैं। अखण्ड वस्तु (ब्रह्म) का अवलम्बन न कर चित्तवत्ति का सो जाना ही लय है। अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करने के कारण चित्तवत्ति का अन्य वस्तुओं का अवलम्बन करना विक्षेप है। लय और विक्षेप के अभाव होने पर भी रागदिवासनाओं के कारण चित्तवत्तिके स्तब्ध हो जाने से अखण्ड वस्तु का अवलम्बन न करना कषाय है। अखण्ड वस्तु के अवलम्बन न करने पर भी चित्तवत्ति का सविकल्पक समाधि के आनन्द का आस्वादन करने लगना रसास्वादन है, अथवा (निर्विकल्पक) समाधि के आरम्भ काल में सविकल्पक के आनन्द का आस्वादन करना रसास्वादन है। इन चार प्रकार के विघ्नों से रहित चित्त जब वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की भांति निश्चल होता हुआ अखण्डचैतन्य मात्र के रूप में स्थित होता है, तो उस समय निर्विकल्पक समाधि कही जाती है।

१०. बन्धन तथा मोक्ष

अद्वैत–वेदान्त में पारमार्थिक दष्टि से आत्मा निर्विकार, निर्लिप्त तथा नित्यमुक्त है। अतः उसके किसी प्रकार के बन्धन में पड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः पारमार्थिक दष्टि से आत्मा न बन्धन में पड़ता है न उसकी मुक्ति होती है। किन्तु अज्ञान से आच्छन्न होकर वह अपने नित्य–मुक्त स्वरूप को भूल जाता है और अपने को सांसारिक बन्धन में बँधा हुआ अनुभव करने लगता है। वह अपने को कर्मो का कर्त्ता तथा उनके फलों का भोक्ता समझने लगता है। यही उसका बन्धन है। किन्तु अज्ञान के 'सत्' वस्तु न होने के कारण उसका यह बन्धन भी सत् नहीं है, एक मिथ्या प्रतीति मात्र है। वह तो नित्य–मुक्त है। उसका यह समझ लेना ही कि वह मुक्त है, उसकी मुक्ति है। अतः मुक्ति कोई नयी उत्पन्न होने वाली वस्तु नहीं है, प्राप्त की ही प्राप्ति

है। जैसे किसी के गले में हार हो किन्तु वह कण्ठगत हार को भूलकर उसे इधर–उधर खोजे और फिर अपनी ओर देखकर हार प्राप्त कर ले। ऐसी ही पुरूष की मुक्ति है जिसकी प्राप्ति के लिए उसे इधर–उधर भटकने की आवश्यकता नहीं है, केवल अपनी ओर देखने की आवश्यकता है।

बन्धन की प्रतीति क्योंकि अज्ञानजन्य है अतः मोक्षप्राप्ति के लिए अज्ञान का नाश आवश्यक है और वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है। इसीलिए अद्वैत–वेदान्त में मोक्ष–प्राप्ति के लिए कर्म की नहीं ज्ञान की आवश्यकता है। कर्म का तो वेदान्त में त्याग ही विहित है क्योंकि कर्म पाप–पुण्य को उत्पन्न कर पुरूष को फल प्रदान करते है और इस प्रकार उसे संसार के बन्धन में बनाये रखते हैं। किन्तु जैसा हम पहले देख चुके हैं यह कर्मत्याग प्रायः उन्हीं कर्मो के लिए विहित है जो अन्तःकरण को मलिन कर ज्ञान–प्राप्ति में बाधक है। ऐसे कर्म काम्य तथा निषिद्ध है। दूसरी और ऐसे भी कर्म हैं जो अन्तःकरण को शुद्ध कर ज्ञान–प्राप्ति में सहायक होते हैं। नित्य, नैमित्तिक, प्रायश्चित तथा उपासना आदि कर्म इसी प्रकार के हैं।

पारमार्थिक दष्टि से अद्वैत–वेदान्त केवल आत्मा या ब्रह्म की सत्ता को ही मानता है, शेष सब कुछ माया या अज्ञान से उत्पन्न है। ज्ञान द्वारा उस अज्ञान का नाश हो जाता है और केवल शुद्ध आत्मा की प्रतीति रह जाती है। यही मोक्ष है। मोक्ष की स्थिति में आत्मा की अनुभूति के अतिरिक्त अन्य कोई ज्ञान भी नहीं रहता। अतः अद्वैत–वेदान्त में वास्तव में 'मोक्ष', 'ब्रह्म', 'आत्मा' तथा 'ज्ञान' ये सब पद पर्यायवाची हैं।

तीन प्रकार के कर्म – अनादि अज्ञान या माया के कारण जीव इस प्रतीयमान बन्धन में बँध जाता है। व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करने के कारण वेदान्त इस बन्धन को व्यावहारिक दष्टि से सत्य ही मानता है। बन्धन की स्थिति में जीव जो कर्म करता है उसके संस्कार पाप–पुण्य के रूप के होते हैं जो उसे फल प्रदान करते हैं। ये कर्म तीन प्रकार के माने गये हैं – (१) प्रारब्ध (२) सचित तथा (३) क्रियमाण। प्रारब्ध कर्म वे होते हैं जिनका फल मिलना आरम्भ हो गया है। जीव जो जन्म प्राप्त करता है तथा सुख–दुःख आदि का भोग करता है, वह सब प्रारब्ध कर्मो के कारण। सचित कर्म वे हैं जो अभी संस्कार के रूप में एकत्रित है और जिनका फल अभी मिलना आरम्भ नहीं हुआ है। क्रियमाण कर्म वे होते हैं जो इस समय किये जा रहे हैं। ये ही एकत्रित होकर संचित हो जाते है और जब फल देना प्रारम्भ कर देते है तो प्रारब्ध बन जाते हैं।

ज्ञान द्वारा सचित कर्मो का नाश – जिस समय मनुष्य को ज्ञान होता है, उस समय अज्ञान का बाध हो जाने के कारण सम्पूर्ण सष्टि उसके लिए समाप्त हो जाती है। किन्तु बाध होने का तात्पर्य यह ाँ पूर्णतः नष्ट हो जाना नहीं है, केवल इतना ही है कि वह उसको देखता हुआ भी उसे सत्य रूप में नही देखता। इस सष्टि के तथा उसके शरीर आदि के पूर्णतः नष्ट न होने के कारण यह है कि ज्ञान द्वारा केवल उसके सचित कर्मो का नाश होता है और क्रियमाण कर्म अपना प्रभाव डालना बन्द कर देते है, अतः उनका भी नाश समझा जा सकता है। किन्तु प्रारब्ध कर्मो का नाश तुरन्त नही होता, वह तभी होता है जब वे फलीभूत होकर समाप्त हो जाते हैं। जैसे हम कुम्हार के चाक को डण्डे से घुमाकर डण्डे को हटा लें तो चाक के घूमने के कारण के हट जाने पर भी चाक अपना घूमना तब तक बन्द नहीं करता जब तक उसका पूर्व संस्कार चाक को घुमाकर समाप्त नहीं हो जाता, उसी प्रकार जीवन का प्रारब्ध कर्म ज्ञान–प्राप्ति पर भी तब तक नष्ट नहीं होता जब तक वह फल देकर अपने को समाप्त नहीं कर देता। यही कारण है कि ज्ञान–प्राप्ति होने पर भी जीव का न तो तुरन्त शरीर नष्ट होता है, न सष्टि।

दो प्रकार की मुक्तिः जीवन्मुक्ति तथा विदेह-मुक्ति – अद्वैत–वेदान्त यह मानता है कि आत्म–ज्ञान की प्राप्ति के बाद भी यद्यपि प्रारब्ध कर्मो के नष्ट न होने के कारण शरीर आदि बने रहते हैं, किन्तु फिर भी पुरूष एक प्रकार की मुक्ति प्राप्त कर लेता है जिसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। शरीर–पात होने के बाद उसे पूर्ण मुक्ति प्राप्त हो जाती है जिसे 'विदेह–मुक्ति' कहा जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दष्टे परावरे।।

'उस परावर (अर्थात् कारण–कार्य रूप ब्रह्म) के जान लेने पर इस (जीव) के हृदय की (अहंकार रूपी) गाँठ खुल जाती है, सारे संशय समाप्त हो जाते हैं तथा (सचित) कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जीवन्मुक्त पुरूष के शरीर आदि के बने रहने के कारण वह अपने पूर्व–संस्कारों के फलस्वरूप कर्म तो करता है और उनके फलों का भोग भी करता है किन्तु इनके बाधित हो जाने के कारण अर्थात् इनके मिथ्या स्वरूप के समझ लिये जाने के कारण वह इनको सत्य रूप में ग्रहण नहीं करता। जैसे कोई पुरूष जब जादू के खेल के विषय में यह जान लेता है कि यह

सब जादू है, तो उसे देखते हुए भी उसे सत्य नहीं समझता है। जीवन्मुक्त पुरूष अद्वैत–ज्ञान प्राप्त कर लेने के कारण जाग्रत् अवस्था में द्वैत को देखता हुआ भी सोये हुए व्यक्ति के समान उसे (सत्य रूप में) नहीं देखता, (कर्म) करता हुआ भी वह निष्क्रिय है। (क्योंकि कर्म का प्रभाव उस पर नहीं होता) –

"सुषुप्तवज्जाग्रति यो न पश्यति
द्वयं च पश्चन्नपि चाद्वयत्वतः।
तथा च कुर्वन्नपि निष्क्रियश्च यः
स आत्मविन्नान्य इतीह निश्चयः।।"

जीवन्मुक्त पुरूष के लिए यद्यपि सम्पूर्ण सष्टि ब्रह्म से अभिन्न है, अतः उसके लिए न कुछ अच्छा है, न बुरा, सभी समान है, किन्तु फिर भी न तो वह कोई बुरा कर्म करता है, न उसके अन्दर कोई अशुभ वासना जन्म लेती है। इसका कारण यह है कि मोक्ष के पूर्व की कठोर साधना के कारण उसके चित्त से सभी अशुभ वासनाएँ नष्ट हो जाती है, केवल शुभ वासनाएँ रह जाती हैं। अतः उसमें या तो शुभ वासना की ही अनुवत्ति होती है या वह शुभ व अशुभ दोनों के प्रति उदासीन बना रहता है। कर्म भी वह अपने मोक्ष–पूर्व के अभ्यास के कारण शुभ ही करता है, अशुभ नहीं। किन्तु मोक्ष–पूर्व के उसके शुभ कर्मो तथा भावनाओं में तथा इस समय के शुभ कर्मो तथा भावनाओं में यह अन्तर है कि मोक्ष–पूर्व के काल में उसके शुभ कर्म आदि साधन के रूप में थे, उन्हें वह सप्रयत्न करता था, किन्तु अब बिना प्रयत्न उनका अनुवर्तन होता है। कहा भी गया है –

उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टत्वादयो गुणाः।
अयत्नतो भवन्त्यस्य न तु साधनरूपिणः।।

'जिसमें आत्म–ज्ञान उत्पन्न हो गया है उसके लिए द्वेष न करना आदि गुण बिना प्रयत्न के होते हैं, साधनरूप नहीं।'

विदेहमुक्ति शरीर–पात के बाद मिलती है। प्रारब्ध कर्मो के फलीभूत होकर समाप्त हो चुकने के बाद मनुष्य के शरीर, अन्तःकरण आदि का नाश हो जाता है। उसके स्थूल शरीर के साथ – साथ उसका सूक्ष्म शरीर भी नष्ट हो जाता है, अतः फिर वह संसरण नहीं करता, पूर्णतः मुक्त हो जाता है।